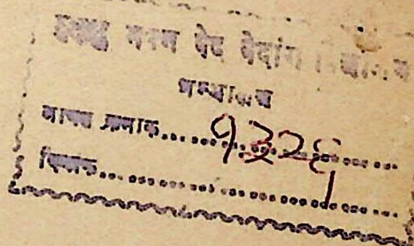
परमार्थ पथ-प्रदर्शक





—: रचयिता :—

महामण्डलेश्वर श्री १०८
श्री स्वामी भजनानन्द सरस्वतीजी महाराज

परमार्थ-पथ-प्रदर्शक

—: रचयिता :—

महामण्डलेश्वर श्री १०८
श्री स्वामी भजनानन्द सरस्वतीजी महाराज



द्वितीयबार	सजिल्द	वि॰ सम्वत्
२०००	मूल्य १·०० रुपया	२०३३

प्रथमबार २००० सम्वत् २०३१
द्वितीयबार २००० सम्वत् २०३३

मुद्रक :—
विश्वम्भर प्रेस
लीडर रोड (तेल टंकी)
इलाहाबाद–२११००३

भूमिका

इस अनित्य संसार में सभी प्राणी नित्य और अतिशय सुख प्राप्त करने के लिए बड़े से बड़े प्रयत्न करते हैं फिर भी जैसे जैसे वे प्रयास करते हैं वैसे ही वैसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सुख और दूर भाग रहा है। यथार्थ भी है यही, क्योंकि जिस प्रकार से मृग तृष्णा में जल नहीं होता, केवल जलाभास होता है। वैसे ही आपातरमणीय भौतिक पदार्थों में केवल सुखाभासमात्र है। सुख का लेश भी नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में :—

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिय॥

जिस प्रकार से बिना जल के लाख उपाय करने पर भी नौका नहीं चल सकती, वैसे ही बिना स्वाभाविक सन्तोष के शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। गीता के बारहवें अध्याय में शाश्वत शान्ति प्राप्ति का उपाय बताते हुए मयूरमुकुटी-बनमाली नंदनन्दन राधाहृदयवल्लभ बृजकिशोर भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी कहते हैं "त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्" त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।

जब भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी परमधाम को जाने लगे तब भक्तप्रवर उद्धव जी ने विनीत भाव से भगवान से कहा कि प्रभो! घोर कलिकाल आ रहा है बड़े बड़े दुष्ट उत्पन्न होंगे। उनके भार से पीड़ित पृथ्वी कहाँ जायेगी और भक्तजनों के लिए क्या आश्रय है?

त्वद्वियोगेन ते भक्ताः, कथं स्थास्यन्ति भूतले।
निर्गुणोपासने कष्टमतः किञ्चिद् विचारय॥
गीता में भी भगवान कहते हैं—
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अपि च-
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।

जिस प्रकार से वस्त्र सीने की सुई में जल भरने की रस्सी पार नहीं हो सकती, उसी प्रकार से देहाभिमानी पुरुष भी निर्गुणोपासना में नहीं लग सकते हैं। इसलिए आप कोई सगुणोपासना द्वारा भक्तों के लिए सरल मार्ग बताने की कृपा करें। जिसके सहारे वे अपना कल्याण कर सकें। उद्धव जी के द्वारा ऐसी प्रार्थना करने पर परम-उदार भक्तमनरंजन श्रीकृष्णजी कहते हैं, हे उद्धव! तुम ठीक कहते हो, कलिकाल में प्राणियों के कल्याण का कोई मार्ग नहीं है फिर भी मैं श्रीमद्भागवत में अपनी आत्मा छोड़े जा रहा हूँ। जो प्राणी इसका आश्रय लेकर अपने जीवन को चलायेगा, उसे परम-शान्ति प्राप्त होगी।

स्वकीयं यद्भवेत्ते जस्तच्च भागवतेऽऽदधात।
तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवताश्रयम्॥

इस सम्बन्ध में एक प्राचीन इतिहास भगवान दत्तात्रेय और राजा यदु का सम्वाद आपको सुनाता हूँ।

अनेक भागवत के विद्वान महापुरुषों के निश्चय से एकादश स्कन्ध में यदु और दत्तात्रेय का सम्वाद सारी भागवत का सार है जो परमार्थ के साधकों के लिए परम हितकारी है।

जिस प्रकार से किसी घने जंगल में किसी वस्तु को चाहने वाला बिना वहाँ के माली की सहायता से वस्तु को प्राप्त

नहीं कर सकता, उसी प्रकार बिना सतरूपी माली की सहायता से शास्त्र रूपी जंगल में आत्म तत्व रूपी वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती है। भगवान शंकराचार्य ने कहा है :—

शब्दजालमहारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्वज्ञातत्वमात्मनः ॥

किन्तु कलियुग के प्रभाव से 'समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्' वाली बात तो समाप्त हो गयी; किन्तु साधुपुरुषों का स्वभाव वैसे ही परोपकार भावना पूर्ण है।

सन्त स्वभाव सहज खगराया। बड़े-बड़े शास्त्रों का अवलोकन नहीं कर सकते हैं और न उनके अर्थ को ही सरलता पूर्वक समझ सकते हैं। अतः सार वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये यही सोचकर परम-उदार श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द सरस्वतीजी महाराज ने अपने सरल सन्तस्वभाव से यदु और दत्तात्रेय के संवादरूप में चौबीस गुरुओं की कथा का पृथक् पुस्तक के रूप में "परमार्थ-पथ प्रदर्शक" प्रकाशन करवाया। ताकि घर बैठे ही लोग लाभान्वित हो सकें। इस पुस्तक में मूल श्लोकों के अर्थ के अतिरिक्त भी उपयुक्त स्थलों पर अन्य पुस्तकों के भी उदाहरण दिये हैं। जिससे अभिप्राय सरलता पूर्वक समझने में सहायता मिलेगी।

इस पुस्तक के संशोधन में पूज्य श्री १०८ स्वामी चैतन्यानन्दजी महाराज भागवताचार्य जी ने जो अपना साधन-भजन का अमूल्य समय देकर सहयोग किया। यह अत्यन्त श्लाध्य है। हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। यथासंभव यत्किञ्चित् इस भूमिका के अल्पज्ञ लेखक ने भी गुरू आज्ञानुसार योग्यता न होने पर भी धृष्टता पूर्वक इस पुस्तक में कुछ प्रयास किया, वह

प्रयास कहाँ तक सफल है। गुरुचरण ही जानें। अपना कार्य तो केवल आज्ञापालन था। मेरा पूर्णनिश्चय है कि यह लघुकाय पुस्तक सद्गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी सन्यासी एवं स्त्री-पुरुष, आबालवृद्ध सभी के लिए परमहितकारी है। जिस प्रकार से छोटे से अंकुश द्वारा बहुत बड़ा मतवाला हाथी वश में हो जाता है, वैसे ही यह पुस्तक भी वायु से भी अधिक वेगवान चंचल मन को वश में करने के लिए अंकुश तुल्य होगी। यदि साधक २४ (चौबीस) शिक्षाओं से एक भी शिक्षा का अनुकरण करेंगे तो अवश्य ही अपार संसार-सागर गोखुरवत् पार कर जायेंगे।

अन्त में मेरी सभी साधकों से करबद्ध प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक के अध्ययन और मनन द्वारा लाभ उठायेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अनन्य गुरूचरणानुरागी
स्वामी शारदानन्द सरस्वती
वेदान्ताचार्य

विषय सूची



❀ श्रीहरिः ❀

ब्रह्मलीन परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८
श्री स्वामी एकरसानन्दजी सरस्वती द्वारा संस्थापित

श्री दैवी सम्पद् महामंडल

की

दैनिक प्रार्थना

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥१॥
कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम् ।
सदावसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी सहितं नमामि
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥३॥

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं,
सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायक चारुचापं,
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥४॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वंमम देव देव ॥५

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुञ्जहारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरति नहिं, आरतिहर तोसों॥तू०
ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा, तू सब विधि हितु मेरो॥तू०
तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावे।
ज्यों त्यों 'तुलसी' कृपालु चरण शरण पावे॥तू०
हे दयामय! आपही संसार के आधार हो॥
आपही करतार हो हम सब के पालनहार हो।
जन्मदाता आपही माता पिता भगवान हो॥
सर्व सुखदाता सखा माता हो तन धन प्राण हो॥हे०
आपके उपकार का हम ऋण चुका सकते नहीं।
बिनु कृपा के शांति सुख का सार पा सकते नहीं॥हे०
दीजिये वह मति बने हम सद्‌गुणी संसार में।
मनहो 'मंजुल' धर्म मय और तन लगे उपकार में॥हे०

मो सम दीन न दीन हित, तुम समान रघुबीर।
अस विचारि रघुवंशमणि, हरहु विषम भवपीर॥१
बार-बार वर मांगहुँ, हरषि देहु श्रीरङ्ग।
पद सरोज अनपायनी, भक्ति सदा सत्संग॥२

अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निर्वान।
जन्म-जन्म रति रामपद, यह वरदान न आन ॥३

स्वामी मोहि न विसारियो, लाख लोग मिलि जाहिं।
हमसे तुमको वहुत हैं, तुमसे हमको नाहिं ॥४

नहि विद्या नहिं वाहु वल, नहिं खर्चन को दाम।
मोसे पतित अपंग की, तुम पति राखहु राम ॥५

श्रवण सुयश सुनि आयहुँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि-त्राहि आरतिहरण, शरण सुखद रघुवीर ॥६

कामहि नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम ॥७

सियावर रामचन्द्र की जै,
शंकर हरिओम् जै जै सियाराम।

ओम् श्री १०८ श्रीस्वामी एकरसानंदजी सरस्वतीजी से प्राप्त उपदेश

इन परमात्मा की आज्ञाओं पर जो चलेगा उसकी मुक्ति अवश्य होगी। यह उपदेश वेद तथा गीतानुसार हैं—

(१) संसार को स्वप्नवत् जानो।
(२) अति हिम्मत रक्खो।
(३) अखंड प्रफुल्लित रहो दुःख में भी।
(४) परमात्मा का स्मरण करो जितना बन सके।

(५) किसी को दुःख मत दो बने तो सुख दो।

(६) सभी पर अति प्रेम रक्खो।

(७) नूतन बालवत् स्वभाव रक्खो।

(८) मर्यादानुसार चलो।

(९) अखण्ड पुरुषार्थ करो गंगा प्रवाहवत् आलसी मत बनों।

(१०) जिसमें तुमको नीचा देखना पड़े, ऐसा काम मत करो।

श्री गुरुदेव भगवान की जय

गुरु-वन्दना

हे मेरे गुरुदेव करुणा सिन्धु करुणा कीजिये।
हूँ अधम आधीन अशरण अब शरण में लीजिये॥
खा रहा गोते हूँ मैं भव सिन्धु के मझधार में।
आसरा है दूसरा कोई न अब संसार में॥हे०
मुझमें है जपतप न साधन और नहीं कुछ ज्ञान है।
निर्लज्जता है एक बाकी और बस अभिमान है॥हे०
पाप बोझे से लदी नैया भँवर में आ रही।
नाथ दौड़ो, अब बचाओ जल्द डूबी जारही॥हे०
आप भी यदि छोड़ देंगे, फिर कहाँ जाऊँगा मैं।
जन्म दुःख से नाव कैसे पार कर पाऊँगा मैं॥हे०
सब जगह 'मंजुल' भटककर अब शरणली आपकी।
पार करना या न करना दोनों मर्जी आपकी॥हे०



महामण्डलेश्वर
श्री १०८ श्री स्वामी भजनानंदजी सरस्वती
परमार्थ निकेतन, ऋषीकेश (हिमालय)

ॐ श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अब हम भगवान कृष्ण द्वारा भक्तप्रवर उद्धव को समझाते हुए राजा यदु और भगवान दत्तात्रेयजी के सम्वाद को लेकर विचार करेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि साधक-जन इसके द्वारा यथार्थ लाभ उठायेंगे। उद्धवजी के शोक-युक्त पूँछने पर कि आपने जिस ज्ञान का उपदेश दिया, उसको मैं आपकी माया से मोहित होने के कारण समझने में असमर्थ हूँ। अतः सरल रीति से इस रहस्य को समझाने की कृपा करें। उस समय भगवान कृष्ण इस प्रसंग को कहते हैं—

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्त्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोक विद्वांश्चरति बालवत् ॥१॥

हे ब्रह्मन् आप कर्मों को न करते हुए इस प्रकार की अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँ से प्राप्त की जिसको प्राप्त करके तुम अत्यन्त विद्वान होने पर भी बालकों के समान (जिस प्रकार से बालकों को किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता चाहे मणि हो अथवा सर्प) भूमण्डल पर भ्रमण करते रहते हो।

प्रायो धर्मार्थं कामेषु विवित्सायां च मानवाः ।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥२॥

हे ब्रह्मन् ! संसार में अधिकतर प्राणी आयु, सम्पत्ति आदि को प्राप्त करने की कामना से ही प्रेरित होकर धर्मार्थ कर्मों को करते हुए देखे जाते हैं। अर्थात् उनके शास्त्र-विहित कर्मों का अनुष्ठान केवल धन, कीर्ति आदि प्राप्त करना ही रहता है। किन्तु—

त्वं तुकल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृत भाषणः ।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥३॥

आप समर्थ, विद्वान, चतुर, सुन्दर और अमृतभाषी (मानो वाणी से अमृत टपक रहा है) होते हुए भी आप जड़, उन्मत्त और पिसाच के समान रहते हैं। न कुछ करते हैं, और न कुछ चाहते ही हैं।

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः ॥४॥

काम, लोभादि दावाग्नि के द्वारा प्रायः अधिक लोग सन्तप्त होते रहते हैं। किन्तु आप उसी प्रकार संसार दावाग्नि से मुक्त दिखायी पड़ते हैं। जिस प्रकार दावाग्नि से मुक्त होकर गंगाजल में स्थित गज।

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्द कारणम् ।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥५॥

हे ब्रह्मन् ! आप सभी सांसारिक वासनाओं से मुक्त हैं और निरन्तर अपने स्वरूप में मग्न रहते हैं। सो आप अपने आनन्द का कारण बतलाने की कृपा करें कि आपको यह (मन, बुद्धि और वाणी से अगम्य) आत्मानन्द का अनुभव किस प्रकार होता है।

इस प्रकार से यदु के द्वारा पूछे जाने पर भगवान दत्तात्रेय जी कहते हैं—

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु ॥६॥

हे राजन् ! मेरी बुद्धि द्वारा माने गये मेरे बहुत से गुरु है। जिनके द्वारा शिक्षा ग्रहण करके मैं जीवन मुक्त होकर संसार में स्वच्छन्द विचरण करता रहता हूँ। मेरे उन गुरुओं को सुनो। ऐसा कहकर अवधूत दत्तात्रेय जी जिनका भय नष्ट हो गया है (विगतो भयः यस्य स) आत्म-दृष्टि द्वारा क्योंकि "द्वितीयाद्वै भयं भवति" अपने से भिन्न प्रतीत होने पर ही भय होता है। "तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनु पश्यतः" सब में आत्म दृष्टि होने पर भय और शोक कहाँ ? इन गुणों से युक्त दत्तात्रेय जी बोले—

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः ॥७॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत् सर्पः ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥८॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, पारावत (कबूतर), समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, भ्रमर, मृग, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुरर (चील) बालक, कुमारी बालिका, बाणकर्ता, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी-कीट ।

एते मे गुरवो राजन् चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥९॥
यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तया पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥१०॥

हे ययातिपुत्र यदु ! ये मेरे चौवीस गुरु हैं इनके द्वारा मैंने जो शिक्षा प्राप्त की है उसको तुमसे कहता हूँ ।

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद् विद्वान्नचलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥११॥

हे राजन् ! मैंने पृथ्वी के द्वारा क्षमा की शिक्षा प्राप्त की है । जिस प्रकार से प्राणियों के द्वारा नाना प्रकार से कष्ट पहुँचाने पर भी सबका आघात सहन करती रहती है और अपना क्षमा गुण त्याग नहीं करती । उसी प्रकार बड़े संकट आने पर भी अपना क्षमागुण न

त्यागना मैंने पृथ्वी के द्वारा सीखा है। इसलिए पृथ्वी मेरी प्रथम गुरु है। कबीरदास के शब्दों में—

खोदखाद धरती सहै काटकूट बनराय।
कटुक वचन साधू सहै और से सहा न जाय॥
शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥१२॥

पृथ्वी के विकार पर्वत और वृक्ष से मैंने पर सेवा (परोपकार) की शिक्षा प्राप्त की है। जिस प्रकार से पर्वत और वृक्ष की सारी चेष्टायें दूसरों के लिए ही होती हैं। यहाँ तक कि इनका जन्म ही परहित के लिए होता है।

वृक्षन सों मति लेहु रे मन!
काटे वाको क्रोध न करहीं सींचत करत न नेह।
धूप सहैं अपने सिर ऊपर औरन छाँह करेत॥
जो कोई वाको पथर चलावत ताहू को फल देत

वृक्षन सों मति०

धन्य धन्य यह पर उपकारी वृथा मनुज की देह।
'सूरदास' प्रभु कहँ लगि वरनौं हरिजन सों मति लेहु।

वृक्षन सों मति०

उसी प्रकार साधु को अपना जीवन परहित के लिए रखना चाहिए। पर्वतों से गंगा आदि विभिन्न नदियाँ परहित के लिए ही बहती हैं। मेघ परोपकार के लिए ही जल बरसाते हैं। वृक्षों का प्रत्येक फल, फूल, काष्ठ आदि परहित के लिए ही होता है। स्वयं का कोई, स्वार्थ नहीं है। यथा—=

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः,
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः
परोपकाराय सतां विभूतयः॥ (सुभाषित)

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रिय प्रियैः।
ज्ञान यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः॥१३॥

वायु दो प्रकार की होती है:—१. प्राणवायु २. वाह्यवायु। प्राणवायु के द्वारा मैंने शिक्षा प्राप्त की कि जिस प्रकार से वह आहार मात्र की अपेक्षा रखता है। रूप रसादि इन्द्रियों के विषयों की उसे अपेक्षा नहीं, उसी प्रकार साधक को चाहिये कि वह इन्द्रियों के स्वाद की अपेक्षा न करते हुए आहारमात्र के द्वारा केवल उदरपूर्ति से सन्तोष करके शरीर का निर्वाह करे। जिससे न तो बुद्धि विकृत हो, न मन में चाञ्चल्य हो और न वाणी व्यर्थ की बातों को करे। क्योंकि—

यावत् भ्रियेत् जठरं तावत्सत्त्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत सस्तेनो दण्डमर्हति ॥

जितने से उदरपूर्ति हो जाय उतने में ही प्राणी का अधिकार है। उससे अधिक चाहने वाला चोर है और दन्ड का भागी है।

विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।
गुणदोषव्यपेतात्मा न व्यषज्येत वायुवत् ॥१४॥

वाह्य वायु के द्वारा मैंने सीखा कि शीत, उष्णादि विविध धर्मों का सेवन करते हुए उनमें आसक्त उसी प्रकार न हो जैसे वायु सभी स्थानों में जाने पर भी वहाँ गुणदोषों (सुगन्ध और दुर्गन्ध) को अपने में धारण नहीं करता। उसी प्रकार सब में रहता हुआ भी साधक किसी के राग, द्वेषादि बन्धनों में न पड़े। क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही बन्धन के कारण हैं।

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥१५॥

जिस प्रकार से पृथ्वी के गन्ध गुण से वायु सम्बद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार शरीर के धर्म कुमार, यौवन, वृद्धादि अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी उन देहधर्मों से सम्बन्ध न करे। भूख, प्यास शरीर के धर्म हैं, न कि

आत्मा के। ऐसा निश्चय करके प्राप्त दुःख सुख के द्वारा हर्ष और उद्वेग को प्राप्त न हो।

सङ्गो हि बाध्यते लोके निःसङ्गो सुखमश्नुते।
तस्मात्सङ्ग परित्याज्य सर्वदा सुखमिच्छतः॥

आसक्तिवान प्राणी संसार के बन्धन (जन्म मृत्यु) में बँध जाता है, और आसक्ति रहित ही सुख प्राप्त करता है। इसलिए सर्वदा सुख चाहने वाले व्यक्ति को सङ्ग (आसक्ति) छोड़ना चाहिए।

निःसङ्गतामुक्तिपदं यतीनां,
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगाऽपि निपातयेत
सङ्गेन योगी किमिताल्पसिद्धिः॥

निःसङ्गता (निरासक्ति) प्रयत्नशील साधकों के लिए मुक्ति का साधन है। सङ्ग (आसक्ति) से बहुत से दोष उत्पन्न होते हैं। जब योग में परिपक्व भी सङ्ग के प्रभाव से पतन को प्राप्त हो जाते हैं, तब सामान्य साधक की क्या बात ? अर्थात् साधक को अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। आसक्तिवान पुरुष पतन को उसी प्रकार प्राप्त होता है, जिस प्रकार से हिरन के बच्चे में आसक्त जड़भरत स्वयं हिरन योनी को प्राप्त हुए।

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्यत्याव्यवच्छेदमसर्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥१६॥

आकाश भी अन्तर्बाह्य भेद से दो प्रकार का है उसमें अन्तराकाश से मैंने स्थावर जङ्गम सभी प्राणियों में ब्रह्मात्मभाव से व्यापक आत्मा का आकाश के समान असङ्गत्व सीखा है। जिस प्रकार से सूत्र में मणियाँ पिरोई रहती हैं, उसी तरह सारा संसार मुझ सूत्रात्मा में मणियों की तरह पिरोया है। जिस प्रकार सूत में मणियों के होने पर भी सूत मणियों से असंग है, उसी प्रकार आत्मा में संसार मणियों की भाँति होने पर भी असङ्ग है। गीता में—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। (गीता)
तेजेऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥१७॥

जिस प्रकार अग्नि के लगने से, जल के बरसने से, अन्न के नष्ट और पैदा होने से, वायु के द्वारा प्रेरित बादलों के आने जाने से भी आकाश का कुछ भी नहीं बनता बिगड़ता। वह सदैव निर्लेप ही रहता है। उसी प्रकार भूत, भविष्य, वर्तमान समयचक्र से प्राप्त नाम

रूपात्मक सृष्टि और विनाश से आत्मा सर्वथा निर्लेप होती है। यह शिक्षा मैंने वाह्याकाश से ग्रहण की है।

स्वच्छ प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥१८॥

जिस प्रकार जल स्वभाव से स्वच्छ, स्निग्ध, मधुर पवित्रादि गुणों से युक्त होता है। दर्शन, स्पर्श और गङ्गादि के कीर्तन से लोग पवित्र होते हैं। उसी प्रकार साधक को पवित्र मधुरभाषी और लोकहितचिन्तक होना चाहिए। इन गुणों से युक्त साधक के दर्शन स्पर्श और गुणानुवाद से पुण्य होता है। ये शिक्षा मैंने जल के द्वारा प्राप्त की है।

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥१९॥

जिस प्रकार अग्नि तेजस्वी और प्रभावयुक्त होती है। जो किसी अन्यतेज से दब भी नहीं सकती, अपने पेट के अलावा कुछ और संग्रह का पात्र नहीं है। और अपने में भस्म करते हुए भी किसी वस्तु के गुण दोषों से लिप्त नहीं होती। परेच्छा से हवि आदि भी ग्रहण करती है। यजमान के पापों का नाश करती है। उसी प्रकार इंद्रियों से भोजनमात्र ग्रहण करता हुआ सभी के दोषों से (रागादि) अलिप्त रहे।

क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम् ।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन् प्रागुत्तरा शुभम् ॥२०॥

जिस प्रकार अग्नि कहीं प्रकट और कहीं गुप्त रहती है, और हवन करने वाले के संचित और आगन्तुक पापों का नाश करती है। उसी प्रकार साधन सम्पन्न पुरुष कहीं अपने को प्रकट करे और कहीं गुप्त रखे। जिससे कल्याणकारी पुरुष उससे लाभ प्राप्त कर सकें तथा सबका अन्न लेते हुए उनके संचित और आगन्तुक पापों का नाश करे।

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥२१॥

जिस प्रकार काष्टायत के प्रभाव से अग्नि नाना प्रकार से (लम्बी, चौड़ी, टेढ़ी) प्रतीत होती है। उस प्रकार से सर्वव्यापी आत्मा भी अपनी माया से रचित इस संसार में देव (स्वर्ग में रहने वाले) त्रियक् (पशु, पक्षी आदि) मनुष्य (भूतल पर रहने वाले) आदि योनियों में रहता है; और उनके आकार का प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः आत्मा सबसे अलिप्त है।

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥२२॥

जिस प्रकार चन्द्रमा की कलाएँ ही क्षय और वृद्धि को प्राप्त होती हैं। न चन्द्रमा घटता है न बढ़ता है। उसी प्रकार जन्म से लेकर मरण तक शरीर के ही छः विकार होते हैं (जायते वर्द्धते स्थीयते अपक्षीयते जीर्यते म्रियते इति षड् भावविकाराः शरीरस्य) आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये मैंने चन्द्रमा से सीखा है।

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥२३॥

हे राजन्! जिस प्रकार दीपक में लौ की उत्पत्ति और विनाश होते हुए प्रतीत नहीं होती। उसी प्रकार अग्निज्वाला और जल प्रवाह के समान प्रतिक्षण काल वेग से प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश होता है। किन्तु मोहवश प्रतीत नहीं होती है—

क्षण भंगुर जीवन की कलिका,
कल प्रात को जाने खिली न खिली।
मलयाचल की शुचि शीतल मन्द,
सुगन्ध समीर मिली न मिली।
कलिकाल कुठार लिए फिरता,
तन नम्र से चोट झिली न झिली।
कहले हरिनाम अरी रसना
फिर, अन्त समय में हिली न हिली॥

ऐसे अनित्य शरीर के द्वारा यथा सम्भव प्राणी को अपने कल्याण के लिए शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए।

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥२४॥

जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा ग्रीष्म-काल में जल को वाष्प बनाकर खींच लेता है और वर्षा-काल में पुनः छोड़ देता है। उसी प्रकार साधक भी इन्द्रियों के अर्थ विषयों को एकत्र करता है। और याचकों के द्वारा याचना करने पर उन्हें दे देता है। उनमें वह किसी प्रकार आसक्त नहीं होता और देने पर दान का अभिमान भी न करे।

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥२५॥

जिस प्रकार सूर्य भेद रहित होने पर भी उपाधि के द्वारा भिन्न भिन्न रूप रंग वाला प्रतीत होता है। वस्तुतः सूर्य एक ही है, उसी प्रकार भेद रहित आत्मा भी उपाधियों के द्वारा भिन्न भिन्न सी प्रतीत होती है। वस्तुतः सूर्य के समान आत्मा एक ही है। उसमें कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत हो रहा है वह केवल अज्ञानता है। यह मैंने सूर्य के द्वारा शिक्षा ग्रहण की।

नातिस्नेहः प्रसङ्गो व कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत एव दीनधीः ॥२६॥

हे राजन् ! मैंने कबूतर नामक पक्षी को अपना गुरू बनाया है। उसके द्वारा मैंने जो शिक्षा प्राप्त की उसको तुमसे कहता हूँ। किसी भी सद्गृहस्थ के पुत्रादिकों में अति-आसक्ति नहीं करनी चाहिए। क्योंकि आसक्ति में फँसा मूढ़बुद्धि व्यक्ति कबूतर के समान कष्ट को प्राप्त होता है। वह वृत्तान्त मैं तुमसे कहता हूँ।

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः ॥२७॥
कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
दृष्टिं दृष्टयङ्गमंगेन बुद्धिं बुद्धया बबन्धतुः ॥२८॥
शय्यासनाटन स्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम् ।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चरेतुर्वनराजिषु ॥२९॥

किसी जंगल में एक वृक्ष पर किसी कबूतर ने घोसला बनाकर अपनी पत्नी कपोती के साथ रहते हुए कुछ वर्ष विताये। अत्यन्त स्नेही दम्पति दृष्टि को दृष्टि से, अंग को अंग से, बुद्धि को बुद्धि से एक करके सुख पूर्वक वन में भ्रमण करते थे (तथा दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं था) शयन, भोजन, भ्रमण आदि सभी स्थानों में साथ साथ निर्भय होकर विचरण करते थे।

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।
तं तं समनयन् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥३०॥

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते ।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती ॥३१॥

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥३२॥

वह कबूतरी जो जो इच्छायें करती थी उन सभी को वह अजितेन्द्रिय कबूतर कष्ट उठाकर भी पूर्ण करता था। समय आने पर कबूतर के द्वारा कबूतरी प्रथम गर्भावस्था को प्राप्त हुई, और पति के ही समीप घोंसले में अन्डे दिये। भगवान की कृपा से समयानुसार अन्डे फूट गये। वे बहुत ही सुन्दर और रोमयुक्त थे। उनका प्रत्येक अङ्ग अत्यन्त कोमल था।

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥३३॥

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥३४॥

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः ॥३५॥

वे दोनों दम्पति (कबूतर, कबूतरी) पुत्र स्नेह में अनुरक्त, उनके मधुर भाषण को सुनकर, उनके कोमल पत्नों को स्पर्श करके और बालचेष्टित क्रियाओं को देख कर अत्यधिक आनन्द को प्राप्त होते थे। इस प्रकार भगवान की माया से विमोहित वे दोनों अल्पबुद्धि वाले परस्पर प्रेमपाश में आवद्ध, बड़े प्रेम से बच्चों का पालन करते थे।

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ।
परितः कानने तस्मिन्नीर्थिनौ चरेतुश्चिरम् ॥३६॥

दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चित् यदृच्छातो वनेचरः।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्ति के ॥३७॥

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥३८॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥३६॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचिताजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचाबद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥४०॥

एक बार वे दोनों दम्पति बच्चों के पोषणार्थ अन्न के लिए बन में चारों तरफ देर तक घूमते रहे। उसी

समय कोई व्याध घोंसले के पास खेलते हुए कपोत बालकों को देखकर जाल बिछा उन्हें पकड़ लिया। शिशुओं के पोषण में उत्सुक दोनों कपोत दम्पति अन्न को लेकर अपने घोंसले में आये। वहाँ पर कपोती अपने बच्चों को जाल में बद्ध देखकर विषाद से विलाप करती हुई अपने बच्चों के निकट जाकर ईश्वर की माया से मोहित होकर स्वयं जाल में फँस गयी—

कपोतश्चात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः ॥४१॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥४२॥

अनुरूपानुकूला च यस्य में पतिदेवता।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥४३॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥४४॥

तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥४५॥

तदनन्तर कपोत अपने पुत्र और पत्नी को जाल में बद्ध देख अत्यन्त दुःखी होता हुआ विलाप करने लगा।

अरे मैं बड़ा अभागा हूँ, बड़ा मन्दबुद्धि वाला हूँ। देखो, थोड़े ही के द्वारा मेरा धर्म, अर्थ और कामनाओं का सम्पादक गृहस्थ आश्रम विनष्ट हो गया। मेरे अनुरूप पतिव्रता धर्मपत्नी शून्य घर में मुझको छोड़कर अपने पुत्रों सहित स्वर्ग को जा रही है। पुत्र और पत्नी विहीन घर में जीवन दुःखपूर्वक किस प्रयोजन के लिए धारण करूँ। अर्थात् मेरा भी जीना व्यर्थ है, क्योंकि ("गृहिणी-गृहमुच्यते") पत्नी से युक्त ही घर वास्तव में घर है। इस प्रकार से वह दुःखी कबूतर विलाप करता हुआ उनको (पुत्र, पत्नी को) मृत्यु में फँसा देखते हुए भी मोहवश स्वयं उस जाल में कूद पड़ा।

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥४६॥

वह क्रूर व्याध स्त्री, पुत्र सहित कपोत को पाकर अपना कार्य सफल समझ अपने घर गया।

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥४७॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमामूढच्युतं विदुः ॥४८॥

हे राजन्! अशान्ति चित्त पारिवारिक मनुष्य परिवार का पालन करते हुए आसक्ति के कारण इस कबूतर पक्षी की भाँति ही सपरिवार कष्ट को प्राप्त होता है जो व्यक्ति मुक्ति के द्वार रूप मनुष्य शरीर को पाकर भी पक्षी कबूतर के समान परिवार में आसक्त रहता है। शास्त्र उसे आरूढ़च्युत (बहुत ऊँचे चढ़कर गिरता हुआ) कहते हैं। कहा भी है—

लख चौरासी भोगि, पौपर अटकी आय।
अबकी पाँसा ना परा, तो फिर चौरासी जाय॥

वस्तुतः इस संसार में कौन किसका है? सब कर्म के द्वारा एक दूसरे को प्राप्त होते हैं। न कोई किसी का पुत्र है, न कोई किसी का पिता। न भाई न बन्धु। जो आज पुत्र है वही कल पिता बनता है। न जाने कौन कितने बार किसका पिता बना और कितने बार किसका पुत्र बना यह केवल मन का खेल है। जहाँ पर अपनत्व बुद्धि बना ली वही मोहवश अपना प्रतीत होने लगता है—

प्रकृति सरिता में प्रवाहित है, सकल जग जीव तिनका।
कर्मवश मिलते बिछुड़ते अन्त में है कौन किसका?

संसार रूपी नदी में कर्म रूपी झोंको से एक दूसरे के सम्बन्धी बनते हैं और काल रूपी वायु से उठने वाली लहरों से फिर बिछुड़ जाते हैं। पता नहीं चलता कि कौन किसका है? ऐसे अनित्य क्षणभंगुर संसार में जो यह मानते हैं कि यह अपने हैं, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा घर और मैं इनका हूँ। इस प्रकार की अहंबुद्धि से ममताग्रस्त रहते हैं, और गृहस्थ धर्म में प्राप्त कर्तव्य का मोहवश त्याग करते हैं। वे शोचनीय हैं।

सोचिए गृही जो मोहवश करे कर्म पथ त्याग।
इसलिए-मोहं जहिमहामृत्युं देहदारा सुतादिषु।
यं जित्वा मुनयो यान्तितद् विष्णोःपरमंपदम् ॥

विवेक चूड़ामणि

महामृत्युरूप शरीर स्त्री पुत्रादिकों से मोह को छोड़ो। जिस आसक्ति को जीतकर मुनि (मननशील) उस विष्णु के अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं। तथा भागवत के माहात्म्य में भी गोकर्ण अपने पिता आत्मदेव को समझाता है। जो सारी भागवत का सार है।

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जाया सुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं।
वैराग्यरागरसिको भव भक्ति निष्ठः॥

भागवत महात्म्य

हे पिता! हड्डी, मांस और रुधिर से बने शरीर से अनुराग का त्याग करो। पुत्रादिकों से सदा के लिए ममता को छोड़ो। दिनरात संसार की नश्वरता को विचारो और वैराग्य के रसिक बनकर भक्तिवान बनो।

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत् तद् बुधः॥४६॥

आठ गुरुओं की शिक्षा को बताने के बाद भगवान दत्तात्रेयजी अजगर से प्राप्त शिक्षा को कहते हैं। इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख तो प्रारब्धकर्म के अनुसार स्वर्ग और नरक सभी जगह मिलते रहते हैं। उसी प्रकार जैसे अनिच्छित भी दुःख स्वतः प्राप्त होते हैं। इसलिए विद्वान को चाहिए कि वह इन्द्रियजन्य सुखों की अभिलाषा न करे।

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः॥५०॥

तथा सुस्वादयुक्त रसहीन अधिक थोड़ा स्वतः प्राप्त अन्न को मुनि अजगर के समान खाये। अर्थात् जिस

प्रकार अजगर अन्न के लिए कोई प्रयास नहीं करता है, अनायास जो प्राप्त हो जाय उसी में सन्तोष करता है। वैसे ही योगी को रहना चाहिए।

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥५१॥

यदि किसी दिन अन्न न प्राप्त हो तो मुनि प्रारब्ध भोग समझता हुआ निःचेष्ट उद्योग न करता हुआ अजगर के समान भूखा ही पड़ा रहे।

ओजः सहोबलयुतं विभ्रद्र देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥५२॥

ओज (मनोबल) सह (इंद्रियबल) बल (शारीरिक बल) से युक्त होने पर भी योगी कर्मों का त्याग करके निद्रारहित होने पर भी सोता हुआ सा निश्चेष्ट रहे, इंद्रियों में कर्म शक्ति होने पर भी कुछ न करे और न कुछ किसी से चाहे। यह मैंने अजगर से शिक्षा प्राप्त की है।

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥५३॥
समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥५४॥

हे राजन् ! जिस प्रकार से वर्षाकाल में सैकड़ों नदियों का जल प्रविष्ट होने पर भी न समुद्र में कुछ बाढ़ आती है, और न वह प्रसन्न ही होता है। ग्रीष्मकाल में सूर्य के द्वारा अपरिमित जल वाष्प रूप में खींच लेने पर भी न घटता है और न दुःखी होता है। उसी प्रकार साधक को भी सुख में हर्षित नहीं होना चाहिए और न दुःख में उद्विग्न ही होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में गम्भीर रहे। गीताजी में कहा है।

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

(गीता अ० २)

जिस प्रकार से समुद्र में गंगा-आदि बहुत सी नदियों का जल प्रवेश करता है। फिर भी वह अचल और परिपूर्ण प्रतिष्ठावाला होता है। उसी प्रकार जिसकी कामनायें उसमें प्रविष्ट हो जाती है। अर्थात् संकल्प, विकल्प नहीं उठते वही शाश्वत शन्ति को प्राप्त करता है। कामनाओं का दास नहीं। इस श्लोक के द्वारा साधक को हर प्रकार

से समुद्र की भाँति गम्भीर होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतंगवत् ॥५५॥

हे राजन्! पतंग के द्वारा प्राप्त शिक्षा को तुम से कहता हूँ। अजितेन्द्रिय पुरुष देवताओं की प्रबल माया रूपी नारी को देखकर उसके हावभाव और कटाक्ष पर मोहित होकर उसी प्रकार विनष्ट होकर नरक में गिरता है जिस प्रकार पतंग दीपक की लौ पर गिरकर नाश को प्राप्त हो जाता है।

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि—
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतंगवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥५६॥

माया रचित स्त्री सुवर्ण वस्त्र आदि पदार्थों में भोग बुद्धि लगाये और आसक्त होकर उपभोग के योग्य समझता है। वह अज्ञानी पतंग के समान ही नष्ट हो जाता है।

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधकरीं मुनिः ॥५७॥

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥५८॥

हे राजन् ! मधुकर के द्वारा प्राप्त शिक्षा को तुमसे कहता हूँ जिसके द्वारा मैं द्वन्द्व-मुक्त होकर आनन्द से रहता हूँ। साधक को चाहिए कि वह देहनिर्वाह के लिए थोड़ा सा अन्न खाये जितने से देह निर्वाह हो सके। वह भी जिस प्रकार से भ्रमर एक ही पुष्प का रस न लेकर थोड़ा थोड़ा सभी पुष्पों का रस लेता है। उसी प्रकार संन्यासी को चाहिए कि वह भी एक घर का बोझ रूप न बनकर मधुकर के समान कई घरों से थोड़ा थोड़ा मांगकर उदरपूर्ति करे। और शास्त्रों के द्वारा सारमात्र ही ग्रहण करे। जिस प्रकार से भ्रमर पुष्पों से रस को ही ग्रहण करता है।

आसक्तिवान सन्यासी उसी प्रकार नाश को प्राप्त होता है जिस प्रकार से कमल पुष्प के रस पान में आसक्त भौंरा नाश को प्राप्त हो जाता है।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभात
भाष्वानुदेस्यति हसिष्यति पङ्कजश्री ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ॥वै० सतक

भौंरा कमल में बैठा विचार करता है कि रात बीतेगी और सुन्दर प्रभात होगा। सूर्य उदय होने पर कमल विकसित होगा और मैं सुख से रसपान करूँगा। भ्रमर इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि तभी एक हाथी ने आकर उस कमलनाल को उखाड़ डाला। महान् दुःख की बात है। भ्रमर की सारी भावनायें क्षणमात्र में ही समाप्त हो गयी। उसी प्रकार बड़े प्रयत्नपूर्वक नाना कष्ट सहकर धन-सम्पत्ति आदि के चक्र में पड़े रहते हैं कि इसके द्वारा अमुक सुख मिलेगा, ऐसा करने पर सुख शान्ति मिलेगी। किन्तु ये सब विचार करता ही रहता है, काल रूपी हाथी आकर जीवन रूपी नाल को उखाड़ कर खा जाता है। इसलिए किसी वस्तु को भी भविष्य के सुख की कामना से एकत्र नहीं करना चाहिए।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृहीत भिक्षितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥५९॥
सायन्तनं श्वस्तनं वा संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥६०॥

मैंने मधुमक्खी से सीखा कि सन्यासी इस भावना से अन्न को न एकत्र करे कि यह प्राप्त अन्न संन्ध्या को खाऊँगा, यह कल खाऊँगा। किन्तु उदर पूर्ति जितने

में हो जाय उतना ही ले। भिक्षा के लिए पात्र केवल हाथ मात्र हो और रखने के लिए उदर। यह शिक्षा सद्गृहस्थों को भी सीखनी चाहिए कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं में ममत्व हो जाता है और ममत्व होने पर उसी के साथ संग्रही मधुमक्खी के समान विनाश को प्राप्त होता है।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अंगसंगतः ॥६१॥
नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥६२॥

साधक को चाहिए कि वह काष्ठ की भी स्त्री का पैर से भी स्पर्श न करे। स्पर्श करने पर वह स्त्रियों के मोहपाश में उसी प्रकार फँस जाता है जिस प्रकार हथिनी के अंग संग से हाथी बन्धन को प्राप्त होता है।

हाथी पकड़ने वाले घास के ढके गड्ढे से ऊपर काले कागज की बनी हथिनी खड़ी करते हैं, उसे देखकर भोग इच्छा से हाथी बन्धन को प्राप्त होता है। ज्ञानवान `रुष को चाहिए कि वह स्त्री आत्मा का मृत्युरूप जानकर भोग इच्छा से उसके समीप न जाये। उसी प्रकार स्त्री

को भी चाहिए कि वह पुरुष को मृत्युरूप समझ कर भोग इच्छा से उसके समीप न जाये। क्योंकि दोनों एक दूसरे के लिए मृत्यु रूप हैं और यदि हठात् जाता है तो दूसरे बलवान हाथी के द्वारा जैसे प्रथम हाथी मारा जाता है, उसी प्रकार साधक भी पतन को प्राप्त हो जाता है।

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःख सञ्चितम्।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थं विन्मधु ॥६३॥
सुदुःखो पार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥६४॥

मैंने मधु निकालने वाले से यह सीखा कि जिस प्रकार मक्खियों के द्वारा अतिपरिश्रम से संचित शहद मधुहारी निकाल ले जाता है। उसी प्रकार जो अपने धन को न दान करता है और न स्वयं भोगता है। वह धन किसी दूसरे बलवान के द्वारा किसी न किसी उपाय से प्राप्त कर भोगा जाता है।

जिस प्रकार से मधु को निकालने वाला पुरुष मक्खियों के भोग से पूर्व ही उनके कठिन परिश्रम से संचित मधु निकाल ले जाता है। उसी प्रकार अति परिश्रम से इकट्ठे किये हुए गृहस्थों के अन्नादि को

यति उनके भोग के पूर्व प्राप्त कर लेता है। क्योंकि गृहस्थ अतिथि को खिलाकर ही खाता है तथा उद्योग के बिना भी भोग प्राप्त होते रहते हैं। उसके लिए चिन्ता और परिश्रम की आवश्यकता नहीं है।

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत् हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहिताद् ॥६५॥
नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥६६॥

हे राजन्! मैंने हरिण के द्वारा सीखा कि बनवासी यति ग्रम्यगीत (संसार की चर्चा) कभी न सुने। क्योंकि वीणा की तान में मस्त हरिण जिस प्रकार से व्याध के द्वारा मारा जाता है। उसी प्रकार विषयी पुरुषों की बातें सुनने से यति उन्हीं विषयों में फँस जाता है, और पतन को प्राप्त होता है। जिस प्रकार से हरिणी पुत्र ऋष्यशृङ्ग वाराङ्गनाओं (वारस्य जनसमूहस्याङ्गना स्त्रियः याः ताः वाराङ्गना) के वशीभूत हो गये। उसी प्रकार स्त्रियों के नृत्य वाद्यादि व्याधि से रुचि रखने वाला पुरुष भी उनके वशीभूत हो जाता है और ऋषिकुमार की ही भाँति पतन को प्राप्त हो जाता है। जब ऋष्यशृङ्ग जैसा ऋषि भी स्त्रियों के हाव भाव और गाने आदि से वशीभूत हो सकता है, जिसको स्त्री पुरुष का भी ज्ञान नहीं था तो

आज सामान्य लोगों का कहना ही क्या ? तथा कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि भगवान का नामादि कीर्तन वाद्यादि के द्वारा अच्छा है। तो उनसे पूँछना चाहिए कि मन एकाग्र का कारण नाम कीर्तन है या वाद्य। यदि नाम ही अभीष्ट है तो नृत्य वाद्यादि की क्या आवश्यकता ? यह केवल मन का भुलावा मात्र है इससे बचना असम्भव है। हाँ यदि अपनी मानसिक स्थिति ठीक है तो कोई हानि नहीं। वैसे साधनाकाल में साधक को नृत्य वाद्यादि का किसी भी स्थिति में आश्रय नहीं लेना चाहिए। इस मन ने न जाने कितने नाच नचाये, उसके भुलावे में नहीं आना चाहिए। क्योंकि—

मन के बहुत रंग हैं छण छण बदले सोइ।
एकै रंग में जो चलै ऐसा विरला कोइ॥
मन के मते न चालिए मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार हैं वे लाखो में एक॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद् बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥६७॥

हे राजन् ! मछली के द्वारा मैंने जो शिक्षा प्राप्त की वह तुम्हें सुनाता हूँ। जिस प्रकार मांसादि के लोभ के वशीभूत होकर काँटे में फँसकर मछली मृत्यु को प्राप्त

होती है। उसी प्रकार दुर्बुद्धि पुरुष स्वाद के वशीभूत होकर प्रमथनशील (मन को व्याकुल करने वाली) जिभ्या इन्द्रिय के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥६८॥

बुद्धिमान लोग आहार को त्यागकर रसनेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य सभी इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं। किन्तु भोजन न करने से वह रसनेन्द्रिय और अधिक प्रवल होती है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह विषयों की रसाशक्ति को छोड़कर औषधि के समान क्षुधानिवृत्ति के लिए अन्न खाये न कि जिभ्या के स्वाद और पेट भरने के लिए—

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥६९॥

अन्य इन्द्रियों (श्रवणादि) के जीत लेने पर भी जब तक रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त नहीं करता तब तक वह जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है। किन्तु रसनेन्द्रिय को जीत लेने पर सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती है।

जिभ्या के द्वारा खाये हुए पदार्थ का ही जब रस बनता है तब अन्य इन्द्रियों पर प्रभाव पड़ता है। अतः

रसना के द्वारा (खट्टा , मीठा तिक्त आदि रजोगुणी पदार्थों का त्याग कर) सत्वगुणयुक्त अहार करने पर सभी इन्द्रियाँ सत्वगुणयुक्त होंगी। इसलिए सर्वप्रथम रसना को वश में करने के लिए कहा है।

रसना को जीते विना, कौन जितेन्द्रिय होइ।
यदि रसना वश में करै, सब इन्द्रियजित होइ॥

हे राजन् ! अब पिङ्गला नाम की वैश्या से प्राप्त शिक्षा को तुमसे कहता हूँ :—

पिङ्गला नाम वैश्याऽऽसीद् विदेह नगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥७०॥

हे ययाति पुत्र ! प्राचीन काल में विदेह नाम के नगर में पिङ्गला नाम की एक वैश्या थी। उसके द्वारा मैंने जो सीखा, वह सुनो—

सा स्वैरिण्ये कदा कान्त संकेत उपनेष्यती।
अभूत-काले वहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥७१॥
मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।
तञ्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका ॥८२॥

वह स्वेच्छाचारिणी वेश्या एकवार रूपवती होने पर भी और कृत्रिय शृङ्गार करके किसी पुरुष को रति स्थान में लाने की इच्छा से (भोग की इच्छा से) सांयकाल में घर के दरवाज़े पर आकर बैठ गयी। हे पुरुषश्रेष्ठ !

वह वेश्या मार्ग में आते हुए पुरुष को देखकर सोचती थी कि यह पुरुष धनयुक्त है। और धन देकर उपभोग करने आ रहा है।

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥७३॥
एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत ॥७४॥
तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ॥७५॥

वह संकेत जीविनी (इशारे से जीविका चलाने वाली) पिङ्गला वेश्या इस प्रकार आते जाते पुरुषों को देखकर यही सोचती कि इस बार कोई दूसरा पुरुष निश्चय ही अधिक धन देने वाला आयेगा। इस आशा से वह कभी घर के अन्दर जाती और कभी बाहर आती। इसी प्रकार आधीरात बीत गयी। इस दुराशा से वह व्यथित थी उसकी निद्रा भी जाती रही।

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥७६॥

हे राजन्! इस प्रकार धन की राह देखते देखते उसका मुख निराशा से सूख गया और हृदय खिन्नता

दीनता से व्याकुल हो उठा। अन्त में उसे वेश्या-वृत्ति से बड़ा वैराग्य हुआ और सारे सुखों के मूल कारण वैराग्य युक्त चित्त से उसने जो गीत कहा वह तुमसे कहता हूँ। क्योंकि वैराग्य, पुरुष की आशारूपी रस्सी को कृपाण के समान छेदन करता है।

न ह्यङ्गजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥७७॥

हे राजन्! वैराग्यहीन पुरुष देह के बन्धन रूप (स्त्री पुत्र सम्पत्यादि) सम्बन्धों को उसी प्रकार नहीं छोड़ सकता है जैसे ज्ञान रहित पुरुष ममता त्यागने में असमर्थ होता है।

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा ॥७८॥

अरे! मेरे मोहरूपी जाल को तो देखो, जो मैं विवेक शून्य होकर इन्द्रियों के वश में होकर तुच्छ संसारी पुरुषों से विषय-सुख की कामना करती हूँ। हाय! हाय! कितने कष्ट की बात है। क्योंकि—

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।

अकासद् दुःखभयादिशोक-
मोहप्रदंतुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥७६॥

हाय ! मैं निरन्तर अपने हृदयस्थ परमप्रिय सच्चे सुखदायक, शाश्वत धन के प्रदान करने वाले अत्यन्त सुन्दर परमात्मा का त्याग करके निरन्तर दुःखाग्नि से दग्ध सामान्य प्राणियों से मैं सुख और धन की कामना करती हूँ। जो स्वयं दुःख की ज्वाला में झुलस रहे हैं। वह भला मुझे सुख कैसे प्रदान कर सकते हैं। मेरी मूर्खता को तो देखो।

अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्यातिविगर्ह्यवार्तया।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥८०॥

अरे ! बड़े दुख की बात है कि अभी तक मैं अतिगर्हित (निन्दित) वेश्यावृत्ति से शरीर और मन को कष्ट देती हुई व्यर्थ ही अपना जीवन जलाती रही। धिक्कार है ऐसे शरीर को जो रति सुख को चाहता रहा है। मेरा तो जीवन निष्फल हो गया। मेरी मूर्खता को तो देखो। जो धन और रतिसुख के लिए विषयी-पुरुषों द्वारा मैं धन से खरीद ली गयी।

यदस्थिभिर्निर्मितवंश वंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥८१॥

यह शरीर रूप घर हड्डियों के बांस खम्भे हैं। खाल, रोमराजि और नखों से आच्छादित नव द्वारों से निरन्तर मल और मूत्र बहता रहता है। मुझसे मूढ़ और कौन स्त्री होगी। जो ऐसे नाशवान और घृणित शरीर को अपना प्रिय मानकर सेवन करेगी। अर्थात् मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई नहीं होगी। मैं ही पापिनी हूँ, जो नाशवान शरीर को प्रिय मानती हूँ।

इदं शरीरं कृमिजालसंयुतं
स्वभावदुर्गन्धमशौचमध्रुवम् ।
रुजायुतं मूत्रपुरीषभाजनं-
रमन्तिं मूढ़ा न रमन्ति पण्डिताः ॥

यह शरीर कीड़ों के समुदाय से युक्त स्वाभाविक ही दुर्गन्धपूर्ण अपवित्र तथा नश्वर है। रोगों से युक्त मल मूत्र का वर्तन है। इसमें राग (आशक्ति) मूढ़ (अज्ञानी) लोग करते हैं, विद्वान नहीं।

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात् ॥८२॥

मुझे धिक्कार है। क्योंकि इस विदेह नगर में मैं ही एक ऐसी मूढ़ नारी हूँ जो अन्तरात्मा में स्थित अपने परम प्रियतम भगवान को छोड़कर अन्य संसारी पुरुषों से भोग की कामना करती हूँ।

सुहृद प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥८३॥

जिस प्रकार से लक्ष्मीजी भगवान के साथ रहती हैं। आनन्दपूर्वक उसी प्रकार मैं अपना यह शरीर देकर उन्हें खरीद लूँगी और उन्हीं के साथ रमण करूँगी। क्योंकि वह सभी के सुहृद हैं, सभी के प्रियतम हैं, मित्र हैं और आत्मा हैं।

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुता ॥८४॥

हे मूर्ख चित्त! सोच तो जरा ये आद्यन्तवन्त (उत्पन्न विनाशशील) विषय से काल के वशीभूत मनुष्य और देवताओं ने कितना अपनी प्रियतमाओं का प्रिय किया है अर्थात् थोड़ा भी प्रिय नहीं कर सके। क्योंकि ये विषय आगमापायि (उत्पन्न और नाश होने वाले) हैं। उन विषयों के द्वारा जब देवता भी अपनी प्रियाओं को सन्तुष्ट न कर सके, तो सामान्य मनुष्यों की बात ही

क्या है ? फिर हे मन ! तू इनसे सुखों की अभिलाषा क्यों करता है।

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥८५॥

मुझपर आज भगवान विष्णु निश्चय ही किन्हीं कर्मों से प्रसन्न हुए हैं। जिसके फलस्वरूप सारे सुखों का कारण इस प्रकार का वैराग्य मेरे मन में उत्पन्न हुआ है।

मैवं न्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः ।
येनानुबन्ध निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥८६॥

मनुष्य वैराग्य के द्वारा ही गृहादि की मोह बेड़ी को काटकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है। यदि मैं मूढ़धी वाली होती तो इस वैराग्य के हेतु रूप इस प्रकार के दुःख न भोगने पड़ते। अतः दुख भी वैराग्य के हेतु होते हैं—

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः ।
त्यक्त्वा दुराशा शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥८७॥
सन्तुष्टा श्रद्धधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥८८॥

परम दयालु भगवान विष्णु के द्वारा किये हुए उपकार को सिर से स्वीकार करके ग्राम्यवार्ता (संसारी

चर्चा) त्याग कर उसी परम कृपालु ईश्वर की शरण ग्रहण करती हूँ। अब मुझको भाग्य के अनुसार जो प्राप्त हो जायगा उसी से जीविका निर्वाह करूँगी और संतोष श्रद्धापूर्वक अपने आत्मस्वरूप उन्हीं भगवान के साथ रमण कहती हुई जीवन यापन करूँगी।

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तंकालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥८९॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्तं इदं पश्येत् ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥९०॥

संसार रूपी कूप में पड़े हुए विषयों से अन्ध, काल रूपी अजगर के द्वारा ग्रसित जीव की परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन रक्षा करने वाला है। जिस समय जीव, काल रूपी अजगर से सारा जगत पकड़ा हुआ है, ऐसा विचार करता है, उस समय वह संसार से आशक्ति छोड़कर विरक्त हो जाता है। और आसक्ति त्यागते ही स्वयं की रक्षा कर लेता है। क्योंकि आसक्ति ही बन्धन का कारण है। इस प्रकार से पिंगला वेश्या की पूर्व संसार में अनुराग और उसके बाद में उत्पन्न वैराग्य को कहा है। हे राजन, आशा पास में बँधी पिंगला ने जब आशा छोड़ दी तभी शान्ति को प्राप्त हो गयी—

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥६१॥

इस प्रकार से संसारी पुरुषों की दुराशा को त्याग कर पिंगला वेश्या सुखपूर्वक शैय्या पर जाकर सो गयी ।

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥६२॥

हे राजन् ! निश्चय ही आशा परम दुःख का कारण है और निराशा (किसी वस्तु को न चाहना) ही परम सुख है। क्योंकि जब पिंगला ने संसारी पुरुषों की आशा त्याग दी तभी वह सुखपूर्वक सो सकी। जब तक प्राणी को धनादि की आशा बनी रहती है तब तक प्राणी उसको एकत्रित करने के लिए नाना प्रकार के छल, दम्भ, पाखंड का आश्रय लेता है और रात दिन दुखी रहता है। कहा है-

जब लगि आशा अर्थ की, तब लगि ताको दास ।
तबै दास सब होत हैं, जब चित भयो निराश ॥
चाह गयी चिन्ता मिटी, मनवा बेपरवाह ।
जाको कछू न चाहिए सोई शाहनशाह ॥

अतः साधक को चाहिए कि वह किसी वस्तु की आशा न करे और जो प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हो जाय

उसी में सन्तोष करे। ये मैंने पिङ्गला के द्वारा शिक्षा प्राप्त की।

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः ॥६३॥

हे राजन्! जो जो वस्तुएँ मनुष्यों को अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उनका संग्रह और उन्हें प्राप्त करने की इच्छा ही दुःख का कारण होती हैं। ऐसा विचार कर साधक को चाहिए कि वह किसी वस्तु का परिग्रह न करे। अकिञ्चन भाव से रहे। ऐसा करने से अनन्त सुख को प्राप्त करता है—

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥६४॥

एक कुरर नाम का पक्षी अपनी चोंच में एक मांस का टुकड़ा लिए था। अन्य बलवान कुरर पक्षी, जिसके पास मांस नहीं था, वह मांस वाले पक्षी को चारों तरफ से घेर कर उसे चोंचों से आहत करने लगे। अन्त में जब कुरर (चील) पक्षी अपनी चोंच से मांस का टुकड़ा त्याग देता है तभी अन्य पक्षियों ने उसका पीछा त्याग दिया और उसे सुख मिला। अतः जब तक संसारी

वस्तुओं का संग्रह रहेगा तब तक कष्ट उठाना ही पड़ेगा। इसीलिए साधक को चाहिए कि वह आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करे, और अकिञ्चनभाव से रहते हुए अपने स्वरूप का चिन्तन करते हुए, शान्ति प्राप्त करें। क्योंकि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।' त्याग के तुरन्त बाद ही सुख की प्राप्ति होती है। और भी कहा है—

हरौ यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपिवा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥अ० गीता

जब तक सारी सांसारिक वासनाओं का विस्मरण नहीं होगा तब तक चाहे ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे भी उपदेशक हो, तो भी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेतिनिश्चयी।
तया हीना सुखी शान्तः सर्वत्र विगतोस्पृहः ॥अ० गीता

चिन्ता के द्वारा दुःख की उत्पत्ति होती है, (क्योंकि वस्तु के संग्रह की कामना में दुःख, न प्राप्त होने पर दुःख, प्राप्त होने पर उसके रक्षण में दुःख, हर प्रकार से दुःख ही दुःख होता है। दुःख का अन्य कोई कारण नहीं होता। इसलिए सभी तरफ से जिसकी कामनायें समाप्त हो गयी हैं और चिन्तामुक्त हो गया है वही सुखी और शान्त है—

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रयदोषितम् ।
असारं निन्दितं हेय इति मे निश्चिता मतिः ॥अ० गीता

यह सम्पूर्ण दृश्यमान पञ्चेन्द्रिय का विषय रूप संसार नाशवान और दैहिक, दैविक, भौतिक दोनों तापों से दूषित है। साररहित, निन्दनीय त्यागने योग्य है। ऐसा मेरा निश्चय मत है। गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' में दुःख का कारण आशा को ही कहा है—

तुलसिदास जग आप सहित जब लगि निर्मूल न होई।
तब लगि कोटि कल्प उपाय करि मरिय तरिय नहि कोई।
श्रुति गुरु साधु स्मृति सम्पति यह दृश्य सदा दुःखकारी।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी।
विनय पत्रिका

न मे मानावमानौ स्तो न चिन्तगेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥६५॥
द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।
यो विमुग्धो जडो बालोयो गुणेभ्यः परंगतः ॥६६॥

हे राजन् ! जिस प्रकार छोटा बालक मानापमान से रहित अपने ही में मस्त रहता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी आत्मा ही में रमण करता हुआ बालक के समान चिन्तामुक्त होकर विचरण करता हूँ। जिस प्रकार से

गृहस्थियों के हृदय में हर प्रकार की चिन्ता व्याप्त रहती है। वह मेरे अन्दर नहीं है। न मुझे मान की इच्छा है, न अपमान का शोच ही है।

इस संसार में दो ही पुरुष चिन्तामुक्त और अपने में मग्न रहते हैं। एक तो अज्ञ (बहुत छोटा निश्चेष्ट) बालक अथवा दूसरे परमानन्द में मस्त गुणातीत। इन दो के अतिरिक्त सभी चिन्तायुक्त होते हैं। मान, अपमान से परे अपने में मस्त रहना मैंने छोटे बालक से सीखा है—

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥९७॥
तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खा स्वनं महत् ॥९८॥

हे राजन्! एक कुमारी बालिका के द्वारा मैंने एकान्तवास की शिक्षा प्राप्त की है। वह तुमसे कहता हूँ। एक बार एक कुमारी कन्या स्वयं को वरण करने के लिए आये हुए अतिथियों को आया देखकर, पिता भाई आदि परिजनों के कहीं बाहर चले जाने पर स्वयं उसने उनका सत्कार किया।

उन अभ्यागतों के भोजन के लिए धान कूटते समय उस कन्या के दोनों हाथों में पड़ी हुई शंख की चूड़ियाँ बड़े जोर जोर से शब्द करने लगी।

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥९९॥

वह बुद्धिमती बालिका ने अतिथि सत्कार के लिए धान कूटना दरिद्रता का सूचक समझकर लज्जा का अनुभव करती हुई एक एक करके सभी चूड़ियों को तोड़ डाला। केवल दो दो ही चूड़ियाँ उसके हाथ में रह गयी।

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नत्याः स्म शङ्खयोः।
तत्राप्येकं निर्भिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः ॥१००॥

उसके बाद दो चूड़ियों में भी ध्वनि हो रही थी इसलिए उसने एक एक और चूड़ी तोड़ डाली। केवल एक एक दोनों हाथों में रह गयीं और फिर शब्द होना बन्द हो गया।

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम।
लोकाननुचरन्नेतान् लोकतत्ववित्सिया ॥१०१॥
वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्त्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥१०२॥

हे राजन्! दैवयोग से मैं भी तत्व की जिज्ञासा से अकेला विचरण करता हुआ इस घटना को देखकर मैंने यह शिक्षा प्राप्त की कि जब तक बहुत से लोगों का समूह रहता है वहाँ वाद-विवाद अवश्य होता है। दो के

भी बीच में बातचीत होती है। इसलिए कुमारी कन्या के कंकण के समान सन्यासी सर्वदा अकेला विचरण करे, उसी प्रकार जैसे सिंह निर्द्वन्द्व होकर जंगल में अकेले विचरता है, और किसी को साथ न रखे।

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जिताश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥१०३॥

हे राजन्! चित्त की एकाग्रता की शिक्षा मैंने बाण बनाने वाले से जिस प्रकार ग्रहण की है वह सुनो। मुनि को चाहिए कि वह आसन और प्राणों को जीतकर आलस्य रहित हो मन को वैराग्य और निरन्तर अभ्यास द्वारा अनन्त परमेश्वर में लगाये।

यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेत—
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून।
सत्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥१०४॥

क्योंकि परमात्मा में लगाया हुआ मन धीरे धीरे सम्पूर्ण कामवासनाओं को त्यागकर तदनुरूप हो जाता है और धीरे धीरे कर्मवासनाओं की धूल धो डालता है। जिस प्रकार अग्नि के बिना लकड़ी शान्त हो जाती है। उसी प्रकार सत्वगुण के उद्रेक से रज और तमोगुणी वृत्तियाँ भी शान्त हो जाती हैं।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद् वहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त—
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥१०५॥

जिस समय योगी का मन परमात्मा में लग जाता है तव वह योगी पुरुष वाहर दिखायी पड़ते रहने पर भी वास्तव में कुछ नहीं देखता । जिस प्रकार से वाण वनाने वाला वाण को सीधा करने में दत्तचित्त भेरी नगारे आदि वाद्यों के साथ निकट से ही जाते हुए राजा को नहीं देखा ।

एक बार राजा अपनी सेना के सहित वाहर जा रहा था । रास्ते में एक वाण वनाने वाला व्यक्ति वाण वना रहा था । राजा के साथ से विगुल आदि वाद्य भी वज रहे थे किन्तु वह वाण वनाने में इतना तन्मय था कि उसे कुछ भी नहीं मालूम हुआ कि कौन जा रहा है, और राजा की सारी सेना निकल गयी । वाद में किसी ने पूछा कि तुमने राजा को इस मार्ग से जाते हुए देखा होगा, कितनी दूर गये होंगे ? तव उसने कहा कौन राजा ? कब गये ? मुझे तो कुछ भी पता नहीं है । वह वाण वनाने में इतना अधिक तन्मय था कि जिसके कारण वह कुछ भी नहीं जान सका ।

शिष्यों के परीक्षणार्थ गुरु द्रोणाचार्य ने एकबार एक वृक्ष की शाखा पर एक पक्षी रखकर उसकी आँख बेधने को कहा। सर्व प्रथम युधिष्ठिर को धनुषबाण देकर गुरु द्रोणाचार्य ने लक्ष्य भेदने से प्रथम पूँछा कि बेटा! इस समय तुम क्या देख रहे हो? तब युधिष्ठिर ने कहा कि गुरुवर! मुझे वृक्ष, पक्षी और आस पास में खड़े लोग दीख रहे हैं। ऐसे सुनते ही गुरु ने धनुष बाण युधिष्ठिर से लेकर दुर्योधन को दिया और पूँछने पर वही उत्तर मिला। इस प्रकार एक एक करके सभी राजकुमारों की परीक्षा की किन्तु सभी ने वही उत्तर दिया। अन्त में अर्जुन की बारी आयी। अर्जुन के हाथ में धनुष-देकर पूँछा—बेटा! तुम क्या देख रहे हो? तब अर्जुन ने कहा कि गुरुवर! मैं इस समय—

पश्यामेकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभासत।
न तु वृक्षं भवन्तं न पश्यामीति च भारत॥

महाभारते आदि पर्व अ० १३२ श्लोक (५)

हे गुरुदेव! इस समय मैं केवल गीध की आँख को ही देखता हूँ। न तो मुझे वृक्ष दिखायी पड़ता है और न आप ही देख पड़ते हैं और न पक्षी ही दीख पड़ता है। अर्जुन की ऐसी वाणी सुनकर गुरु द्रोणाचार्य गद्गद् हो गये और लक्ष्य को बेधने के लिए कहा। अर्जुन ने बाण

चलाया और गोध नीचे गिरा दिया। यह है एकग्रता। जिस प्रकार से जब अर्जुन तन्मय होकर लक्ष्य वेधने का प्रयास किया और गुरु की आज्ञा पाकर लक्ष्य वेधा, उसी प्रकार चित्त की एकाग्रता की शिक्षा साधकों को अर्जुन के इस दृष्टान्त से लेनी चाहिए।

एकचार्यनिकेतः स्याद् प्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥१०६॥

साँप से हे राजन्! मैंने सीखा कि साधक को चाहिये कि वह साथ में समूह (बहुत से लोगों के) को न रक्खे और स्वतन्त्र ही भ्रमण करे। गृह रहित होकर प्रमाद रहित होकर गुहादि में ही निवास करे। ऐसे ही स्वरूप में रहे कि कोई उसे पहचान न सके कि यह तत्व-दर्शी साधु है। किसी से कुछ इच्छा न करके मितभाषी होवे।

गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः।
सर्प परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१०७॥

यति को चाहिए कि पाञ्चभौतिक शरीर की नश्वरता को जानकर गृहादि को न बनावे। क्योंकि गृहादि दुःखों की जड़ है। (घर बनाने पर उसके योग्य वस्तुओं का संग्रह करना पड़ता है और धीरे धीरे उसी के चक्कर में

फंस जाता है।) जिस प्रकार से सर्प स्वयं अपना घर न बनाकर चूहे आदि के घरों में आनन्दपूर्वक निर्वाह करता है। उसी तरह "परगृहे सुखी सर्पवत्" की भाँति सन्यासी को गृहादि के चक्कर में न पड़ना चाहिए। स्वतन्त्र गुहा में रहकर जीवनयापन करे, और किसी विशेष स्थान पर ममत्व न करे।

रामायण में भी गोस्वामी जी सर्वत्र से ममता रहित होकर भगवत्परायण होने की शिक्षा देते हैं। यथा—

जननी जनक बन्धुसुत दारा,
तन धन धाम सुहृद परिवारा।
सबकी ममता ताग बटोरी,
मम मन मनहिं बाँधि बरि डोरी॥

रा० मानस

इस शिक्षा का अनुकरण करके सद्गृहस्थों को भी ममता रहित होना चहिए। क्योंकि ममत्व सभी के लिए बन्धन का करण है।

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः॥१०८॥

हे राजन्! मैंने मकड़ी के द्वारा सीखा कि जिस प्रकार मकड़ी किसी दूसरे साधनों के विना ही अपने

अन्दर से जाल बनाती है और फिर स्वयं खा भी जाती है। उसी प्रकार एक ही परमेश्वर अपनी माया के द्वारा उत्पत्ति के प्रारम्भ में अर्णनाभि के जाल की भाँति संसार की रचना करवाता है। जैसे गीता में—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' और सृष्टि के अन्त में (कल्पान्त में) अपने में ही सब कुछ छिपाकर एक ही अखिल आत्माओं का आश्रयरूप परमात्मा विद्यमान रहता है।

जीवन्मुक्तिस्तद् विद्वान् पूर्वोपाधिगुणास्त्यजेत।
सच्चिदानन्दरूपत्वात् भवेत् भ्रमर कीटवत्॥

(आत्मबोध)

जिस प्रकार कीड़ा भ्रमर के स्मरण से भ्रमर के समान ही हो जाता है। उसी प्रकार विद्वान पुरुष आगन्तुक उपाधियों के गुणों का त्याग करके सच्चिदानन्द रूप होने के कारण उसी सच्चिदानन्द रूप हो जाता है।

एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु॥
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥१०६॥

एक ही अद्वितीय परमात्मा सभी प्राणियों का आश्रय और अधिष्ठान रूप होकर स्वयं अपने में स्थित रहता है। अर्थात् उनका कोई नियामक या आश्रय नहीं है।

प्रकृति और पुरुष दोनों के नियन्ता समय आने पर अपनी काल शक्ति के द्वारा सत्वरजादि शक्तियों को मायावस्था मे पहुँचा देते हैं। क्योंकि 'सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' और स्वयं कैवल्य (निरुपाधि, सब भयों से शून्य) एक और अद्वितीय रूप विराजमान रहता है।

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुडयां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥११०॥

जिस प्रकार भृंगी कीट के द्वारा अपने घर में छेद में बन्द कीड़ा उस भृंगी का स्मरण करते करते अपने पूर्वरूप को त्यागकर भृंगी के ही आकार का हो जाता है। जब कीट जैसा भी प्राणी भृंगी का स्मरण करते-करते उसी के आकार का हो जाता है तब इस शरीर की क्या बात ? ऐसा विचार कर के प्राणी सभी को परमात्मा में ही अपने मन को लगाना चाहिए।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहादद्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥१११॥

उसी प्रकार जो पुरुष जहाँ कहीं भी स्नेह से, द्वेष से और भय से अपने मन को लगाता है; उसी प्रकार का उसका मन बन जाता है। जैसे मारीच भय से राम जी की याद करता था। यहाँ तक कि उसे कहीं रा शब्द भी सुनाई पड़ जाता था तो वह काँपने लगता था कि कहीं

राम तो नहीं आगये। इसीलिए रावण से कहता भी है—

भई सम कीट भृंग की नाईं।
जहँ तहँ मैं देखौं द्वौ भाई॥

द्वेष में शिशुपाल, कंस आदि हैं, और स्नेह में राजा दशरथ जी बहुत आगे हैं। उन्हीं के वियोग में प्राण भी त्याग दिया। इस प्रकार जहाँ जिस भाव से मन लगाया जायेगा, वही भाव दृढ़ हो जायेंगे।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।
स्वात्मोपशिक्षिता बुद्धिं श्रुणु मे वदतः प्रभो॥११२॥

इस प्रकार मैंने इतने गुरुओं के द्वारा इस प्रकार शिक्षा प्राप्त की। अब मैं अपने शरीर से प्राप्त शिक्षा को तुमसे कहता हूँ। सुनो—

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
बिभ्रत्स्म सत्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथातथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥११३॥

हे राजन्! यह मेरा देह भी विरक्ति का कारण है इसलिए यह भी मेरा गुरु है। क्योंकि जन्म और मृत्यु होता ही रहता है। यद्यपि यह शरीर तत्वचिन्तन में

सहायक है। परमात्मा की प्राप्ति भी होती है फिर भी मैं यह समझता हूँ कि यह मेरा शरीर अवश्य ही एक न एक दिन शृगाल और श्वानों के द्वारा खाया जाने वाला है। ऐसा निश्चय करके आसक्ति रहित होकर असंग भाव से विचरण करता रहता हूँ।

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥११४॥

पशु, चाकर, घर, प्रियजन और शरीर का प्रिय करने के लिए प्राणी स्त्री पुत्रादि का पालन करता है कि ये सब मेरे सहायक होंगे। परिश्रमपूर्वक धनादि का सञ्चय करता है। वह शरीर ही उस प्राणी का स्वयं नष्ट हो जाता है (जब अपना शरीर ही अपना न हुआ तो दूसरे कैसे अपने हो सकते हैं यह सोचने की बात है।) तथा वृक्ष के समान बीज रूप से इस शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर के लिए बीज बो देता है। (अर्थात् धन, पुत्रादि में आसक्ति होने से शरीरान्त के समय भी उन्हीं की याद आयेगी और उसी के अनुसार योनियों में जाता है। घर की याद कर शरीर त्याग करने वाला छिपकली, मकड़ी आदि योनियों को प्राप्त होता है। धन

की याद कर शरीर छोड़ने वाला सर्प और पुत्र, स्त्री की याद कर प्राण छोड़ने वाला कुत्ते और बैल की योनि में जाता है। अतः ये दूसरे शरीर के लिए बीज के समान हैं।

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्वयः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥११५॥

जिस प्रकार बहुत सी पत्नियों वाले पुरुष को उसकी सभी पत्नियाँ अपनी अपनी ओर घसीटतीं रहतीं हैं। उसी प्रकार एक जीव को सभी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में खींचती रहती हैं। जिह्वा अपने स्वाद विषय की ओर, जननेन्द्रिय भोग की तरफ, त्वचा आदि इन्द्रियाँ स्पर्शादि विषयों की तरफ आकृष्ट करती हैं। नासिका इन्द्रिय सुगन्ध में, नेत्र सुन्दर रूप देखने में खींचते हैं। अतः साधक को हर इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने देव-दुर्लभ मानव शरीर को नष्ट नहीं करना चाहिए। किसी कवि ने कहा भी है—

कान निरन्तर गान तान सुनिबोही चाहत।
नासा अतर-सुगन्ध चाहत फूलन की माला।
त्वचा चाहत सुखसङ्ग सेज कोमल तन वाला।

आँखें चाहत रूप रैनिदिन रूप सराहत।
रसनाहूँ चाहत रहत नित खाटे मीठे चरपरे।
इन पांचन प्रपञ्च मिलि भूपन को भिक्षुक करे॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥११६॥

भगवान की अचिन्त्य शक्ति माया से नाना प्रकार के वृक्ष, खरगोश, सर्प, पशु पक्षी, मच्छर, मछली आदि जन्तुओं की रचना करके भी जब ब्रह्मा जी को सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने मानव शरीर की रचना करके प्रसन्नता को प्राप्त हुए। उन्होंने यह समझ लिया कि इस शरीर से प्राणी अवश्य ही परमपद प्राप्त कर सकता है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव—
न्निश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात॥११७॥

नाना योनियों के बाद यह देवदुर्लभ मानव शरीर प्राप्त करके बुद्धिमान को चाहिए कि वह शीघ्र ही जब

तक मृत्यु नहीं आती है। तब तक अपने कल्याण रूप मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करे विषयों से विरक्त होकर। क्योंकि विषय तो सर्वत्र हर योनियों में प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु आत्म कल्याण का साधन रूप मानव शरीर वार वार नहीं प्राप्त हो सकता है। यदि इस शरीर से मोक्ष प्राप्त कर लिया तो इसके समान कोई शरीर प्रशंसनीय नही है। जैसा कि गोस्वामी जी लिखते हैं—

नर तन सम नहि कौनिउ देही।
जीव चराचर जाचत जेही॥

मानव जीवन का यथार्थ लाभ न प्राप्त करने पर प्रशंसा से भी अधिक निन्दा है।

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानलोक आत्मनि।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः॥११८॥

राजन्! यह विचार कर मुझे इस नश्वर संसार से ज्ञान का प्रकाश होने पर विरक्ति हो गयी और आसक्ति, अभिमान रहित स्वच्छन्द भाव से पृथ्वी पर भ्रमण करता रहता हूँ।

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥११९॥

हे प्रभो! सिर्फ एक ही गुरु के द्वारा सुदृढ़ और पर्याप्त बोध प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि एक ही परम तत्व

तो ऋषियों ने नाना रूपों से गुणगान किया है। अतः मनुष्य को अपनी बुद्धि से निश्चय पूर्वक विचार करके अपने आत्मकल्याण के लिए प्रयास करना चाहिए। जिससे यह देव दुर्लभ शरीर व्यर्थ न हो जाय।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं,
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(भागवत)

यह मानव शरीर कल्याण का परम साधन है। जो अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास ही प्रभु कृपा से प्राप्त हो गया है। अपार भवसागर से पार होने के लिए अति सुदृढ़ नौका है। जिसके सद्गुरुदेव मल्लाह होकर खेने वाले हैं, और चिन्तन मात्र से ही अनुकूल वायु के प्रवाहित होने पर गन्तव्य की ओर बढ़ने लगता है। इस प्रकार की सुविधा होने पर भी जो अपने कल्याण के लिए प्रयास नहीं करता है, वह आत्मघाती है।

इसलिए इन २५ गुरुओं की कही कथा के द्वारा साधक को शिक्षा प्राप्त करके शीघ्र ही अपने कल्याण का प्रयास करना चाहिए।

"गुरु शिष्योपदेशः"

मनुष्य का मोह ही वन्धन का कारण है। संसार के व्यक्ति, वस्तु से रागात्मक सम्बन्ध का ही नाम मोह है और वही मोह प्राणी को आवागमन से निकलने नहीं देता है मोहाक्रान्त होने के ही कारण बड़े बड़े धैर्यशालियों को भी कष्ट उठाना पड़ा। आसक्ति चाहे सत्वगुण की हो, रज या तम की, वन्धन प्रत्येक ही है चाहे सोने की बेड़ियाँ डाल दी जाँय या लोहे की, लेकिन वन्धन ही कहा जायेगा। परमहंस जड़भरत जी का हरिण शावक के प्रति यद्यपि सत्वगुण का प्रेम था किन्तु उन्हें भी हिरण योनि में जाना पड़ा। अत्यन्त कठोर काष्ट को भी आसानी से काट देने वाला भ्रमर कमल कोस में वन्द होकर भी मोह के कारण अपने को नहीं छुड़ा पाता है और प्राण गँवा देता है इसलिये कहा है कि संसार में अनेकों वन्धन हैं किन्तु प्रेम रूपी रस्सी का वन्धन विलक्षण ही है।

वन्धनानि किल सन्ति वहूनि प्रेम रज्जु कृत वन्धनमन्यत्।
काष्टभेदे निपुणोऽपि षड़ंघ्रिः कुण्ठितो भवति पद्मकोशे ॥

किन्तु उसी प्रेम को जब साधक परमात्मा की तरफ लगा देता है तब वही विशुद्ध प्रेम कहलाता है किन्तु उसमें किसी प्रकार की चाहना नहीं होती है क्यों कि जो

परमात्मा आप्त काम हैं उसको पानेवाले में कामनायें कैसे रह सकती हैं ? हृदय में या तो भगवान ही रहेगा या संसार ही क्योंकि जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नही रह सकती वैसे ही जहाँ भगवान है वहाँ संसार नहीं। कविवर रहीम ने बहुत ही सुन्दर कहा है कि—

प्रीतम छवि नैनन बसी दूजो कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिर जाय॥

क्योंकि संसार और भगवान एक में नहीं रह सकते हैं। जो इसदेवदुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके मिथ्या आसक्ति छोड़ कर भगवान को प्राप्त नहीं कर लेता है उसी के शरीर की महानिन्दा है क्योंकि यह शरीर भगवान की प्राप्ति के लिए ही मिला है भोग तो चौरासी लक्ष योनियों में प्रारब्धानुसार पर्याप्त हैं मनुष्य देह भोगों के लिए नही है फिर भी जो भोगों में ही जीवन व्यतीत करते रहते हैं, गोस्वामी जी के शब्दों में उनसे अच्छे खर, सूकर कूकर हैं क्योंकि उन्हे ज्ञान नहीं है।

तिन्ह ते खर सूकर, स्वान भले जड़तावश ते न कहै कछु वै।
'तुलसी जेहि राम सो नेह नही सो सही पशु पूंछ विषानन द्वै।
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बांझ, गई किन च्वै।

जरि जाऊ सो जीवनु, जानकीनाथ।
जियै जग में तुम्हरो विन है।

और ऐसे लोगों को योगारूढ़च्युत कहा है। जैसे कोई ऊंची पर्वत माला पर चढ़ते २ अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच जाय, किन्तु वहाँ पहुँचकर लापरवाही से पीछे देखने लगे और बिल्कुल नीचे आकर गिर पड़े, वैसे ही मोक्ष प्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी मानव देह को पाकर प्रमाद वश आगे न देखकर पीछे भोगों को देखता है धन जन मे मोह जाल फैलाता है उसे पुनः चौरासी लक्ष योनियों का महान कष्ट भोगना पड़ता है। जैसे–

यः प्राप्त मानुषं लोकं स्वर्ग द्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारुढ़च्युतंविदुः॥

इसीलिए गोस्वामी जी सचेत करते हैं कि घर, सम्पति, परिवार सब को अपने मार्ग में बाधक समझकर सबकी आसक्ति त्यागकर सन्त चरणों में क्यों नहीं जाते? तथा कूकर के समान इधर उधर भटकना त्यागकर भगवान का भजन करो।

सुत, दार, अगारु, सखा।
परिवारु विसोक्कु महाकुसमाजहि रे॥
सबकी ममता तजिकै, समता सजि।
सन्त सभा न विराजहि रे॥

नरदेह कहा, करि देखु विचारु,
विगारु गंवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों,
तुलसी भजु कोसलराजहि रे।

क्योंकि ये कोई साथ नही आये और न साथ जायेंगे क्योंकि—वीचहि मिलहिं वीच छुटिजावै।
अन्त समय कोउ काम न आवै ॥

जब विचार कर देखते हैं तो यह अपना शरीर ही साथ नही देता है और जब तक रहता है तब तक न जाने कितने रंग बदलता है। कामियों का घर होने से दुःखी करता रहता है। हम सुख स्वरूप निर्विकार इसी मल मूत्र के भाण्ड के साथ में होकर, दुःखी सुखी होगये, विनाशी मानने लगे। लड़कपन, युवा, वृद्धा अवस्थाएं बदलती रहती हैं और हम देखते रहते हैं और एक दिन छूट जाता है। अतः कोई कारण नही होता है कि हम इससे स्नेह करें क्योंकि प्रत्येक अगं घृणित है मल मूत्र वहता रहता है दूसरे संसार में ऐसा कोई नही देखा गया जो अपने मल मूत्र से प्रेम करता हो उल्टे शरीर से वाहर होते ही घृणा करते हैं उस तरफ देखते भी नही हैं। फिर दूसरे के मल मूत्र से उत्पन्न हड्डी चमड़े रुधिर से बने शरीर से मोह करना कितनी बड़ी भूल ? कैसा भ्रम ? कैसी अज्ञानता ?

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयंवपुः।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव॥

—विवेक चूड़ामणि

माता पिता के मल से उत्पन्न यह मल मांस मय शरीर है इसको चाण्डाल के समान त्यागकर अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मभाव में स्थित होकर कृतकृत्य (धन्य) हो जाओ। अर्थात मनुष्य शरीर को सफल कर लो। जिस स्थिति में स्थित होकर तत्वदर्शी ब्रह्मादिकों के द्वारा भी वन्दित हो जाता है और भगवान भी अपने दश अवतारों के चक्र से छुटने के लिए उसकी चरण धूलि मस्तक में लगाते हैं।

अनपेक्षं मुनिशान्तिं निरवैरं समदर्शिनम्।
अनुब्रजाम्यहं नित्यं पूयेदङ्घिरेणुभिः॥

जब ऐसी स्थिति में साधक पहूंच जाता है तभी कृती होता है। पिङ्गला के शब्दों में शरीर की वास्तविकता का वर्णन यथार्थ है जो हर साधक के लिए माननीय है।

यदस्थिभिर्निर्मित वशं वंश्य,
स्थूणं त्वचा रोम नखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्,
विट्मूत्रपूर्णं मदुपैतिकान्या॥

यह शरीर अस्थि खम्भों पर स्थिर है त्वचा की पालिश परमात्मा ने इतनी सुन्दर करदी है कि इसकी

आपातरमणीयता देखते ही बनती है, किन्तु नवो द्वारों से निरन्तर मल मूत्र लार आदि घृणित पदार्थ बहते रहते हैं। नित्य विधिवत साफ करते हैं किन्तु प्रातः वैसा ही घृणित बन जाता है। इसलिए बुद्धिमत्ता इसी में है कि इसकी मिथ्या आसक्ति को त्यागकर इसमें स्थित नित्य, आनन्दस्वरुप आत्मदेव को जान लें और प्रारब्धानुसार निर्वाह करें क्योंकि जो घनीभूत कीचड़ मे पड़े हीरा रूप आत्मा को निकाल ले तभी बुद्धिमानी है। क्योंकि ब्रह्मा जी ने जानकर ही इन्द्रियों का प्रवाह बहिर्मुख कर रक्खा है क्योंकि अन्तर्मुखी प्रवाह होने पर सभी लोग बिना प्रयास ही आत्मा जान लेंगे इसलिए जो धीर आत्मा-भिलाषी होकर इन्द्रियों को शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि के द्वारा अन्तर्मुखी करके विषयों की आसक्ति त्यागकर प्रयास करेगा उसे ही प्राप्त होगा अथवा यों कहें कि अपने अन्दर ही आत्मा का अनुभव करेगा। क्योंकि जिसको जानने के लिए प्राणी यत्र तत्र भटकता रहता है वह तो अपने अन्दर ही स्थित है किन्तु विषयों में लिप्त होने के कारण अपने को भूलकर मृग की भांति बाहर भटकता हैं। जैसे मृग की नाभि में ही कस्तूरी है किन्तु उसकी न जानकर सुगन्धि से आकृष्ट होकर इधर उधर दौड़ता है किन्तु दौड़ मिटती नही है, वैसे ही इन्द्रियों की दौड़ मिटती नही है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥२।१।१ कठ

कोई कोई धीर अमृतत्व की इच्छा से जिसने अपनी इन्द्रियों की वहिर्मुखता को रोककर अन्तर्मुखी होकर प्रत्यगात्मा का दर्शन करता है। इसीलिए हमारे ऊपर कृपा कर के, श्रुति भगवती कहती है।

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥कठ० १।३।३

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाएस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ १।३।४

इस शरीर रूपी रथ में आत्मा को सवार जानो, जिस प्रकार सवार सवारी से विल्कुल पृथक होता है वैसे ही आत्मा शरीर से विल्कुल अलग है शरीर आत्मा का कोई आसक्ति का कारण नही बनता। यह बताया। शरीर रूपी रथ में बैठे आत्मा रूपी रथी को गन्तव्य तक पहुँचाने के लिए इन्द्रिय रूपी घोड़ों के मन रूपी लगाम पकड़े हुए बुद्धि रूपी सारथी बैठा है, शब्दस्पर्शादि विषय ही उनके मार्ग हैं तथा सबसे असङ्ग आत्मा, शरीर

इन्द्रिय और मन से युक्त होकर भोक्ता सा प्रतीत होता है क्योंकि शुद्ध आत्मा भोक्ता नही है उसका भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधि को लेकर ही कहा जाता है। लोक में भी देखा जाता है कि कोई सवार भूलकर भी अपने को ऐसा नहीं समझता कि मैं मोटर, सायकिल, तांगा आदि हूँ। किन्तु उनसे अलग उनका अपने को द्रष्टा ही मानता है। वैसे ही आत्मा इन सबका साक्षी है और सब दृश्य हैं। अब जिसका बुद्धि रूपी सारथी बुद्धिमान और बलवान होगा वह इन्द्रिय रूपी घोड़ों को मन रूपी लगाम के द्वारा सही रास्ते से ले चलकर आत्मा रूपी सारथी को मोक्ष रूपी गन्तव्य पर पहुँचा देगा। यदि सारथी कमजोर होगा तो इन्द्रिय रूपी चञ्चल घोडे विषय रूपी गड्ढे में डाल देंगे जैसा लोक में देखा जाता है। और बारम्बार जन्म मृत्यु का चक्र चलता रहता है।

व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्।
नद्यां कीट इवावर्त अवान्तर तरमाशु ते ॥पञ्चदशी तत्वविवेकप्र०

भगवान दत्तात्रेय जी महराज ने अपने शरीर को भी अपना गुरू माना क्योंकि महापुरुष सर्वत्र अवगुण में भी गुण ही देखते हैं।

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु,
विभ्रतस्म सत्वनिधनं सततार्कुदर्कम् ।
तत्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि,
पारञ्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥११॥

यह मेरा शरीर भी विरक्ति और विवेक का कारण होने से गुरू है क्योंकि जव मैं विचार करता हूँ तो शरीर व्याधियों का घर, काम क्रोध का घर, विनाशी जन्म मरण वाला है इसलिए इससे वैराग्य होता है तथा इसमें रहकर मैं आत्मचिन्तन करता हूँ और अपने स्वरूप में स्थित होकर आनन्दमग्न रहता हूँ तथा यह जानकर कि यह एक न एक दिन शृगाल, गीध, और पक्षियों के द्वारा खा जाने-वाला है। आत्मदेव के वाहर होते ही सब जन्तु इसे खा जायेंगे इसलिए इसमें रहते हुए भी सदैव असङ्ग रहता हूँ।

नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ गीता

क्योंकि शरीर की क्रिया का अनासक्त होने पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। प्रारब्धानुसार चल रहा है।

इस प्रकार का निश्चय हो जाने पर साधक अपने को अवस्थात्रय (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) एवं गुणत्रय (सत्व, रज, तम,) तथा इनके कार्य शरीर इन्द्रियादि

का प्रकाशक निर्लेप साक्षी चेतन आत्मा समझता है तथा सबका प्रकाशक अपने को समझता है। जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी आत्मा मैं हूँ। सत्व, रज, तम तीनो अवस्था एवं उसके कार्य देह इन्द्रिय मन बुद्धि से मेरा कोई सम्बन्ध नही है क्योंकि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के पृथक-पृथक सत्वांश से ज्ञानेन्द्रियां सम्मिलित सत्वांश से अन्तःकरण उत्पन्न हुआ वही वृत्ति भेद से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप हो जाता है। तथा पृथक-पृथक रजांश से पञ्चकर्मेन्द्रियां तथा सम्मिलित अशं से पञ्चप्राण का निर्माण होता है तथा तमोगुण से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरत्रय एवं अन्नमय, प्राण मय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों का तीनों शरीरों के अन्दर अन्तर्भाव है। इनका मेरा सम्बन्ध कैसे हो सकता है क्योंकि–

> अहं विकारहीनस्तु देहो नित्यं विकारवान् ।
> इति प्रतीयते साक्षात् कथं स्याद्देहकः पुमान ॥

अपरोक्षानुभूति ॥२३॥

अहं शब्द से निर्दिष्ट आत्मा विकार रहित है तथा देह सर्वदा विकारवान है क्योंकि उत्पन्न विनाशादि छः विकार होते रहते हैं, व्याधियां आती रहती हैं यह

प्रत्यक्ष प्रतीत होता रहता है तब आत्मा देह कैसे हो सकता है।

लिङ्ग चानेकसंयुक्तं चलं दृश्यं विकारि च।
अव्याकमसद्रूपं तत्कथं स्यात्पुमानयम् ॥३९॥ अपरो०

जिस प्रकार से स्थूल शरीर विकारी है वैसे ही लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर भी सत्रह तत्वों (पञ्चज्ञानेद्रियां, पचकर्मेन्द्रियां, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि) का समुदाय, चलायमान, प्रतीत होने वाला, विकारयुक्त, परिच्छिन्न और ज्ञान के द्वारा बाधित होने से असत्स्वरूप है वह आत्मा कैसे हो सकता है।

एवं देहद्वयादन्य आत्मा पूरुष ईश्वरः।
सर्वात्मा सर्वरूपश्च सर्वातीतोऽहमव्ययः ॥४०॥अपरो०

इस प्रकार से आत्मा पुरुष या ईश्वर (उपाधिरहित) दोनो प्रकार के शरीर से भिन्न है। अतः मैं सर्वात्मा, सर्वरूप अविनाशी और सबसे परे हूँ। और भी दृश्य और दृष्टा की पृथक २ प्रतीति विचार से होती है जिसका सम्बन्ध परस्पर बिलक्षण होने से त्रिकाल में भी सम्भव नही है क्योंकि यावत्संसार दृश्य होने के कारण, सीमित होने के कारण, परिवर्तनशील होने के कारण विनाशी है क्योंकि "यदल्पं तन्मर्त्यम्" जो अल्प है वह विनाशी है

तथा दृक अर्थात दृष्टा अविनाशी अपरिच्छिन्न, अपरिवर्तन-शील और व्यापक है। दोनो परस्पर विलक्षण हैं। एक देखना ही अज्ञानता है।

दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौस्तः,
परस्पर विलक्षणौ।
दृग्ब्रह्म दृश्यं माया स्या-
दिति वेदान्त डिमडिमः ॥ वे. डि.

इसलिए सारे वेदान्त का सारांश यह है कि ब्रह्म एक है उसे सर्वत्र देखना मोक्ष एवं भिन्न-भिन्न देखना संसार है।

अभेद दर्शनं मोक्षः
संसारो भेद दर्शनम्।
सर्व वेदान्त सिद्धान्त
इति वेदान्त डिमडिमः ॥ वे. डि.

वह एक परमात्मा सारे संसार का कारण, नियामक है इसलिए उसे अन्तर्यामी कहते हैं—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिकाः अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरों यमयत्येष तं आत्मान्तर्याम्यमृतः।" बृ. ३।७।३

जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी के अन्दर पृथिवी जिसे नहीं जानती कि मेरा कोई शासक है पृथिवी जिसका

शरीर है और पृथिवी का नियमन करता है वही अन्तर्यामी अमृत स्वरूप तुम्हारा आत्मा है। जो आकाश के समान सर्वगत और सबसे निर्लेप आत्मा है। वह मैं हूँ। जैसे घटमठ की उपाधि से घटाकाश मठाकाश रूप में भिन्न सा प्रतीत होने पर भी वास्तविक भेद नहीं है क्योंकि उपाधि समाप्त होते ही महाकाश ही शेष रह जाता है वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा शरीरोपाधि से भिन्न-भिन्ना सा प्रतीत होने पर भी वास्तव में भेद रहित है जो भेद की प्रतीति हो रही है वह अज्ञान के कारण ही है।

घटेभिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद्यथा पुनः।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः॥ १२।५।५

शरीरोपाधि समाप्त होते ही, विन्दु सिन्धु में मिल-कर जैसे अनन्त रूप हो जाता है वैसे ही, जीव ब्रह्म रूप हो जाता है। ब्रह्म तो है ही। किन्तु गुरू के ब्रह्मोपदेश से अज्ञान का पर्दा हट गया और ब्रह्मरूप हो जाता है। अपनी दीनता परिच्छिन्नता का परित्याग कर देता है कर्ता भोक्ता का अभिमान समाप्त हो जाता है। जैसे अवधूत शुकदेव जी के सदुपदेश से जन्म मृत्यु के भय से भयभीत परीक्षित का भय दूर हो गया।

त्वं तु राजन्! मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥१२।५।२

हे राजन् ! मैं मर जाऊँगा ऐसी पशु बुद्धि का परित्याग करदो अपने को देह मानकर कर्ता भोक्तापन, जन्म मरणादि धर्मों को अपने निर्विकारी आत्मा में मानना पशुओं (अज्ञानियों) के भाव हैं इन्हें तुम त्याग दो। तुम पहिले नहीं थे अब उत्पन्न हो गये हो ऐसी बात नहीं है। देह प्रथम नहीं था, और अब उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार तुम नहीं। तुम पहले भी विद्यमान थे तुम उत्पत्ति विनाश से रहित हो इसलिए तुम नाश को प्राप्त नही होगे। जिसका जन्म होता है उसी का मरण है "जातस्यहि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च" के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है और वही विनाश को प्राप्त होता है, आत्मा नहीं। आत्मा जन्म मरण रहित सबका साक्षी है वह तुम हो। योग्य शिष्य मिलते ही योग्य गुरू का उपदेश उसे सारे भयों से छुड़ा देता है जैसे शुकदेव मुनि के उपदेश से परीक्षित का सारा तक्षक का भय समाप्त हो गया।

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥ १२।६।५

हे प्रभो ! आपने मुझे निर्भय स्थान दिखा दिया है जिससे मैं ब्रह्म स्वरूप में स्थिति हो गया हूँ अतः अब तक्षकादि मृत्युओं से तनिक भी भय नहीं मानता क्योंकि मैं मृत्यु की भी मृत्यु हूँ "मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्"।

इस प्रकार से सद्गुरुदेव के उपदेश द्वारा शिष्य तुच्छ देहभाव को त्यागकर ब्रह्म भाव में स्थित हो जाता है और सारे भय छूट जाते हैं क्योंकि भय अज्ञानता है द्वैत में है "द्वितीयाद्वै भयं भवति"। और प्रलय आदि के भीषण दृश्य से भी उसका हृदय कम्पित नहीं होता है और सम भाव में स्थित रहता है।

प्रलयस्यापि हुँकारैश्चलाचल विचाल्नैः।
विक्षोभं नेति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते ॥

जैसे स्वप्न दृश्य का स्वप्न दृष्टा साक्षी मात्र होता है वैसे आत्मा मे स्थित सन्त सारे दृश्य संसार का दृष्टा होकर रहता है। और आकाश के समान व्यापक तथा निर्लेप, पृथ्वी के समान क्षमाशील, समुद्र के समान गम्भीर, वायु के समान गुण दोष के संसर्ग से रहित और सूर्य के समान सबका साक्षी प्रकाशक होकर भी सबसे अलग दृष्टा मात्र हो जाता है।

इस प्रकार सद्गुरुदेव के सदुपदेश से शिष्य अपनी सारी ग्रन्थिछेद करके आत्माराम हो जाता है। तथा संक्षेप में यह भगवान दत्तात्रेय जी की शिक्षाओं का सार है

ओऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य परमाराध्य देवाधिदेव अवधूतशिरोमणि श्री रोटी बाबा जी महाराज की कृपा से प्राप्त :—

(१)

"निजानन्द"

हो गया आनन्द दुनिया को रिझा कर क्या करूं ?
दिल मुनउवर है तो दीपक राग गाकर क्या करूं ?
रोम रोमों में रमा है आत्मा मेरा सजन।
तो खाक में भी रम रहा खाके रमाकर क्या करूं ?
सब सजावट औ बनावट का महल है आत्मा।
तो भला हड्डी औ चमड़ी को सजाकर क्या करूं ?
चक्रवर्ती कर दिया गुरू ने दिखाकर आत्मज्ञान।
तो भला महराज दुनिया में कहा कर क्या करूं ?
चढ़ गया अद्वैत का रंग दिल पै सुर्खी आ गयी।
तो भला मिट्टी में कपड़े को सजाकर क्या करूं ?
आ गयी वल्लभ को मस्ती पढ़के इकताई का पाठ।
तो भला इन पोथियों में सर पचाकर क्या करूं ?

गुरु कृपाकांक्षी–शारदानन्दः

(२)

"फकीरों की दुनिया"

अलमस्त फकीरों की राहें कोई क्या समझे ? कोई क्या जाने ?
अनमोल जखीरा हीरे का, कोई क्या समझे ? कोई क्या जाने।
फिरते रुहानी दुनिया में, दुनिया का पर्दा फास किये।
खाना बदोश मस्तानों का, कोई क्या समझे? कोई क्या जाने ?
मोहताज नही हैं चिथड़ों के पाबन्द नही हैं टुकड़ों के।
मिल गया मुबारक साहाना, कोई क्या समझे, कोई क्या जाने?
कोई भला कहे, कोई बुरा कहे इसकी जिनको परवाह नही।
महदूद निगाहें बदल चुकीं, कोई क्या समझे ? कोई क्या जाने।
मुक्ता जब मिला समुन्दर में, तब कौन किसी की याद करे।
गुजाइश अब न रही कुछ भी, कोई क्या समझे? कोई क्या जाने।

गुरूचरण किंकर—शारदानन्दः

———

श्री दैवी सम्पद् मंडल द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

लेखक—महामण्डलेश्वर श्री स्वामी शुकदेवानन्दजी सरस्वती

१–सदाचार दोनो भाग	.५०	२–दैवी जीवन सोपान	.४०
३–सदाचार शिक्षा	.५०	४–दस उपदेश	.८०
५–ब्रह्मचर्य साधन	.४०	६–दैवी सम्पत्ति	२.००
७–भक्ति के नव साधन	.५०	८–आदर्श गृहस्थाश्रम	.८०
९–सुखद लोक यात्रा	.५०	१०–परमार्थ पथ	१.००
११–साधन सुधा	.३०	१२–परलोक की बातें	१.२५
१३–साधन प्रदीप	.२५	१४–साधन पथ प्रदर्शक	.७५
१५–नव महाव्रत	.६०	१६–रामराज्य की ओर	.६०
१७–हम दिग्विजयी कैसे हों	१.२५	१८–नित्य उपयोगी संग्रह	.६०
१९–ध्यान के साधन	.८०	२०–धर्म के ८ स्तम्भ	.१०
२१–ध्यान योग सेट सजि०	५.००	२२–तुलसी वचनामृत	.३०
२३–अनन्य भक्त के लक्षण	.९०		

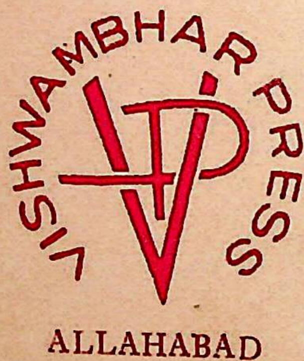
24–Yogasan Pranayam & Suray Namuskar	1/4/-
25–Sadhan Pradeep	-/5/-
26–Nine Fundamentals of Spiritual life	-/1/-
27–Spritual Victory How to win it? ...	2/-/-
28–Towards Heaven	1/8/-
29–Road to Divine Goal ...	1/8/-
30–Science& Method of Maintaining Brahmacharya	-/7/-

रचयिता—पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द सरस्वती जी महाराज

१–परमार्थ मणिमाला (पाँचो भाग) सजिल्द	१.५०
२– ,, ,, (छठा भाग) सजिल्द	१.५०
३– ,, ,, (सातवां भाग) ,,	१.५०
४–भजनामृत प्रवाह	१.००

लेखक—श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती जी महाराज

१–परमार्थ बिन्दु (दोनो भाग) सजिल्द ...	१.५२
२–श्री महाराजजी का जीवन चरित्र (जीवन झांकी)	२.००
३–अंताक्षरी मानस अनुक्रमणिका ...	३.००
४–तीर्थ यात्रा के स्मरण	३.००


VISHWAMBHAR PRESS
VP
ALLAHABAD